# प्रेम-योग

स्वामी विवेकानंद

श्रीरामकृष्ण-आश्रम धंतोली,

नागपूर ( सी. पी. )

---

१९३६.

श्रीरामकृष्ण-शिवानंद-स्मृतिमालाका चवथा पुष्प-

# प्रेम-योग

( RELIGION OF LOVE )

स्वामी विवेकानंद

अनुवादक—पंडित द्वारकानाथ तिवारी
बी. ए., एल् एल्., बी., वृ

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धनतोली
नागपूर सी. पी.



मूल्य चौदह आने

प्रकाशक —

स्वामी भास्करेश्वरानंद,

अध्यक्ष-श्रीरामकृष्ण आश्रम,

धनतोली, नागपूर (सी. पी.)

मुद्रक—

मॅनेजर-टी. एम्. पाटील,

सरस्वती पावर प्रेस, अमरावती (वरार).

# समर्पणम्

---

त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पितम्।

कलियुग के कुटिल जीवों के निस्तार के लिये धर्म-संस्थापनार्थ इस पृथिवी में अवतार लेनेवाले—

भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के

श्रीचरणों में यह पत्रपुष्प रूपी अनुवाद सादर समर्पित है। उन्हीं की प्रेरणा से यह प्रारंभ हुआ और उन्हीं ने इसे पूर्ण कराया अतः उन्हीं को यह निवेदित किया जाना उचित है।

तद्दास दासानुदास चरणरजाभिलाषी—

पौष कृष्ण ३०
संवत् १९९३

द्वारकानाथ

# भूमिका

ईश्वर की कृपा से विश्व विख्यात स्वामी विवेकानंद कृत ' रिलीजन ऑफ् लव्ह ' ( Religion of Love ) का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो गया। दीर्घ काल से अनुभूत न्यूनता को दूर करने में यह पुस्तक सहायक हुई है। इसमें के कुछ व्याख्यान स्वामीजीने इग्लैंडमें दियेथे और कुछ अमेरिका में। भक्त के जीवन के निर्माण के लिये इस पुस्तक के विषय अत्यावश्यक हैं। वास्तव में भक्ति की सत्य भावना को आत्मसात करने के हेतु तथा भक्त के जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिये वे महान उपकारी हैं। पुस्तक के विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म किंतु साथ ही सुगमता से बोधगम्य है। अनुवादक ने अपने पावन कार्य को श्रद्धा और भक्ति पूर्ण रुप से सच्ची लगन के साथ समाप्त किया है। अनुवाद विश्वसनीय है। शब्दशः है और मूल के भावों का अनुगामी है। हम अनुवादक पं द्वारकानाथजी तिवारी के हृदय से आभारी हैं। साथही हम दुर्ग निवासी सर्वश्री आर. आर. डगांवकर तथा श्री निशिकांत गांगुली को भी धन्यवाद देते हैं। जिन्होंने अपना सहयोग प्रदान किया है। श्रीयुत डॉ. शिवाजीराव पटवर्धन एवं ( श्रीयुत गुलाबचन्द जैन हेड–मास्टर, ) अमरावती के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते। जिन्होंने प्रुफ संशोधन कर अमूल्य सहायता की है।

हमें आशा है कि पुस्तक अपना उद्देश्य पूरा करेगी और लोक प्रिय होगी। वाचक गण यह जानकर प्रसन्न होंगे कि इस पुस्तक की आय संस्था के धार्मिक–उद्देश्य और परमार्थिक कार्यों में लगाई जावेगी।

१ अक्टूबर
१९३६.

**प्रकाशक**

# अनुवाद के संबंध में दो शब्द

स्वामी विवेकानंदजी के नाम से, ऐसा कौन भारतवासी होगा, जो परिचित न हो। उन्हों ने हिंदुधर्म की विजयपताका अमेरिका तक में चिकागो की सर्वधर्म महासभा में फहरा कर हिंदुस्थानकी कीर्ति सदा के लिये स्थापित कर दी। इन महापुरुष ने अनेक धर्मविषयक ग्रंथ लिखे हैं। उन में से बहुतेरे ग्रंथ दुनियां की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवादित हैं। पर उन का यह छोटा सा ग्रंथ " Religion of Love " हिंदुस्थान की राष्ट्रभाषा हिंदी में अनुवादित नहीं है और यदि इस का हिंदी अनुवाद मैं कर सकूं तो इस कमी की पूर्ति हो सकती है ऐसी सूचना श्री स्वामी भास्करेश्वरानंदजी अध्यक्ष रामकृष्ण आश्रम नागपूर ने मुझे दी। मैं यद्यपि इस योग्य नहीं हूं तथापि उन की आज्ञा को मान देकर यह अनुवाद आरंभ किया और श्री जगदीश्वर की कृपा से अनुवाद पूर्ण भी होगया। तत्त्वज्ञान का विषय और श्री स्वामी विवेकानंदजी की ओजस्विनी भाषा में उसका विवेचन कहां! और टूटीफूटी हिंदी भाषा में यह अनुवाद कहां!! पर मूलग्रंथ की भाषा का शब्दशः अनुवाद करने और उस के भाव को ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न इस अनुवाद में किया गया है। सफलता कहां तक मिल सकी है इस का निर्णय " प्रेमयोग " के सहृदय पाठक ही करेंगे। मैं तो अपने को इतने से ही कृतकृत्य समझूंगा कि इसे पढ़कर पाठकों को श्रीस्वामीजी के मूलग्रंथ को पढ़ने की लालसा उत्पन्न हो जाय।

इस अनुवाद की पाण्डुलिपि को मेरे मित्र श्री. रघुनाथराव डगांवकर महाशयनें संशोधन किया और इस अनुवाद के विषय में मेरे दूसरे मित्र

श्री· निशिकांत गांगुली महाशय समय २ पर मुझे उत्साहित करते रहे। अतः इन दोनों महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

मैं श्री स्वामी भास्करेश्वरानंदजी का अत्यंत कृतज्ञ हूं जिन की सूचना ने मुझे इस पवित्र कार्य की ओर प्रेरित किया।

पौष कृष्ण १०<br>
विक्रमसंवत् १९९३

विनीत<br>
द्वारकानाथ

# विषय-सूचि

## प्रेमयोग

स्वामी विवेकानन्द

|| श्रीगणेशायनमः ||

# प्रेम योग

## प्रथम अध्याय ।

## पूर्व साधना

भक्तियोग की सर्वोत्तम परिभाषा संभवतः भक्त प्रल्हाद द्वारा दी हुई निम्न परिभाषा ही है:—

> या प्रीतिर विवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
>
> — विष्णु पुराण १—२०—१९

"हे ईश्वर! अज्ञानी जनों को इन्द्रियों के भोग के नाशवान् पदार्थों पर जैसी गाढ़ी प्रीति रहती है उसी प्रकार की प्रीति हमारी तुझ में हो और तेरा स्मरण करते हुए हमारे हृदय से वह सुख कभी दूर न होवे"

हम देखते हैं इन्द्रियभोग के पदार्थों से बढ़कर और किसी वस्तु को न जानने वाले लोग इन पदार्थों

पर-धन धान्य, कपड़े लत्ते, पुत्र कलत्र, बंधु बांधव, और अन्यान्य सामग्रियों पर कैसी दृढ प्रीति करते हैं; इनवस्तुओं के प्रति उनकी कैसी घोर आसक्ति रहती है। इसीलिये इस परिभाषा में वे भक्त ऋषिराज कहते हैं "वैसी ही प्रबल आसक्ति, वैसी ही दृढ़ संलग्नता केवल तेरे प्रति मुझे रहे" ऐसी ही प्रीति जब ईश्वर के प्रति की जाती है तब वह "भक्ति" कहाती है! भक्ति किसी वस्तुका संहार नहीं करती वरन् भक्ति हमें यह सिखाती है कि हमें जो २ शक्तियां दी गई हैं उनमें से कोई भी निरर्थक नहीं है बल्कि उन्हीं के अन्तर्गत हमारी मुक्ति का स्वाभाविक मार्ग है। भक्ति न तो किसी वस्तु का निषेध ही करती है, न वह हमें प्रकृति के विरुद्ध ही चलाती है। भक्ति तो केवल हमारी प्रकृति को ऊँची उठाती है और उसे अधिक शक्तिशाली प्रेरणा देती है। इंद्रिय विषयोंपर हमारी कैसी स्वाभाविक प्रीति हुआ करती है। ऐसी प्रीति किये विना हम रह ही नहीं सकते क्योंकि ये विषय-ये पदार्थ हमें इतने सत्य प्रतीत होते हैं। साधारणतः हमें इनसे उच्चतर पदार्थों में कोई यथार्थता ही नहीं दिखाई देती; पर जब मनुष्य इन इन्द्रियों के परे-इन्द्रियों के संसार के उस पार-किसी यथार्थ वस्तु को देख पाता है तब वांछनीय यही है कि उस प्रीति को-उस आसक्ति को-बनाये तो रखे, पर उस संसारिक

विषय के पदार्थोंसे हटाकर उस इन्द्रियों के परे वस्तु अर्थात् परमेश्वर में लगा देवे। और जिस प्रकार का प्रेम इंद्रियों के भोग्य पदार्थों पर था उसी प्रकार का प्रेम भगवान् में लग जाने पर उसका नाम "भक्ति" हो जाता है। सन्त श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार उस उत्कट प्रेम की प्राप्ति के लिये नीचे लिखी साधनायें हैं।

प्रथम साधना है 'विवेक' यह विशेषतः पाश्चात्यों की दृष्टि में विचित्र बात है। श्री रामानुजाचार्य के मत से इसका अर्थ है "आहारमीमांसा" या "खाद्या खाद्य विचार"। हमारे शरीर और मन की शक्तियों को निर्माण करने वाली समग्र संजीवनी शक्तियां हमारे भोजन के भीतर ही रहती हैं। अभी जो कुछ मैं हूं सो सब ही इसके पूर्व मैंने जो खाया उस भोजन सामग्री में ही था। वह सब खाद्य पदार्थों से ही मेरे शरीरमें आया उसमें संचित रहा और नया रूप धारण किया पर वस्तुतः मेरे शरीर में और मेरे मन में मेरे खाये हुए अन्न से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। जैसे भौतिक सृष्टि में हम शक्ति और जड़ पदार्थ पाते हैं और यह शक्ति और जड़ पदार्थ हम में मन और शरीर बन जाते हैं। ठीक उसी तरह यथार्थ में देह और मनमें, और हमारे खाये हुए अन्न में, केवल आकार या रूप का अंतर है। ऐसा होते हुए, जब हम अपने भोजन के जड़कणों द्वारा ही अपने विचार

यन्त्र का निर्माण करते हैं और जब हम उन्ही जड़कणों के अंतर्निहित सूक्ष्म शक्तियों द्वारा विचार का निर्माण करते हैं तब तो यह सहज ही सिद्ध होता है कि इस विचार और विचार यंत्र दोनों पर ही हमारे खाये हुए अन्न का प्रभाव पड़ेगा। विशेष प्रकार के आहार हमारे मन में विशेष प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं यह हम प्रति दिन स्पष्ट रूप से देखते हैं। और अन्य प्रकार के आहारों का शरीर पर अन्य प्रकार का परिणाम होता है और अन्त में वह मनपर भी बहुत असर पहुँचाता है। इससे हम बहुत बड़ा पाठ यह सीखते हैं कि हम जिन दुःखों को भोग रहे हैं उनका बहुतेरा अंश हमें हमारे खाये हुए भोजन द्वारा ही प्राप्त होता है अधिक मात्रा में और दुष्पाच्य पदार्थ खालेने के उपरांत आप देखते हैं कि मन को काबू में रखना कितना कठिन हो जाता है; तब तो मन तमाम समय इधर दौड़ उधर दौड़ यही किया करता है। फिर ऐसे भी खाद्य पदार्थ हैं जो उत्तेजक होते हैं; ऐसे पदार्थों को खाने के बाद आप देखते हैं कि आप अपने मन को किसी प्रकार रोक ही नहीं सकते। यह मानी हुई बात है कि बहुत सी मात्रा में शराब पी लेने पर या किसी अन्य नशीले पेय का व्यवहार करलेने से मनुष्य अपने मनको नियंत्रण करने में असमर्थ पाता है; ऐसी अवस्था में मन तो उसके काबू के बाहर होकर इतस्ततः भागता है।

ही नहीं। मांस भक्षण का अधिकार उन्हीं मनुष्यों को है जो बहुत कठिन परिश्रम करते हैं और भक्त नहीं होना चाहते हैं। पर आप यदि भक्त होना चाहते हैं तो आप को मांस का त्याग करना चाहिये वैसे ही सभी उत्तेजक भोजन-जैसे प्याज, लहसुन और सभी दुर्गंध युक्त पदार्थों जैसे सावर क्रौट* इत्यादि का त्याग करना चाहिये। कई दिनों का बना हुआ भोजन, प्रायः सड़ा हुआ अन्न जिस के स्वाभाविक रस सूख गये हैं या जिसमें दुर्गंधि आगई है ऐसे खाद्य वस्तुओं का भी परित्याग करना आवश्यक है। भोजन के संबंध में दूसरा विषय है-आश्रय विचार। यह पाश्चात्यों के लिये और भी जटिल बात है। आश्रय का अर्थ है कि भोजन किस व्यक्ति के पास से मिला इस का विचार। यह हिंदुओं का रहस्यमय सिद्धांत है। इस में यह तर्क शैली है कि प्रत्येक मनुष्य के आसपास एक प्रकार का वातावरण (aura) होता है और जिस किसी वस्तु को वह छूता है उस वस्तु के साथ उस मनुष्य की प्रकृति या आचरण का कुछ अंश मानों कुछ प्रभाव रहजाता है जैसे प्रत्येक मनुष्य के शरीर से उस के शरीरके सूक्ष्म परमाणु

---

* यह एक प्रकार की जर्मनी देशकी चटनी है. जो बंधी गोभी और लवणजल द्वारा बनती है.

( effluvia ) निकला करते हैं उसी तरह उस के आचरण या भाव भी उसके बाहर निकलते रहते हैं और जब कभी वह किसी वस्तु को छूता है उस वस्तु में वे लग जाते हैं। अतः हमें इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि पकाते समय हमारे भोजन को किसने स्पर्श किया—किसी दुष्ट प्रकृति वाले या दुराचारी मनुष्य ने उस भोजन को स्पर्श तो नहीं किया, जो भक्त होना चाहता है वह दुष्ट प्रकृति के मनुष्यों के संग भोजन न करे क्योंकि उनकी दुष्टताका प्रभाव भोजनद्वारा फैलता है॥

और एक बात है निमित्तविचार यह समझने में बहुत सरल है। मैल और धूल इत्यादि चीजें भोजन में न हों। ऐसा न हो कि बाजार से खाद्य पदार्थ ले आये और उन्हें बिना धोये ही थाली में खाने के लिये परोस दिये उन में संसारभर का कूड़ाकर्कट और धूलभरा हुआ है। मुख के लार थूंक इत्यादि वस्तुओं से हमें परहेज करना चाहिये। जब परमात्मा ने हमें चीजों को धोने के लिये यथेष्ट जल दे रक्खा है तो हमारी ओठों को छूने की और थूकद्वारा हर एक चीज को स्पर्श करने की आदत कैसी गंदी और भयानक है। Mucous membrane याने द्रवोत्पादक या श्लैष्मिक झिल्ली हमारे शरीर का बड़ा नाजुक भाग है और इससे उत्पन्न लार इत्यादि के द्वारा

अनिष्ट प्रभावोंका संक्रमण हो जाना बहुत ही सहज है अतः इसका स्पर्श-दूपित ही नहीं-भयानक भी है। और भी किसी वस्तु का एक अंश किसी दूसरे ने खाकर छोड़ दिया हो उसेभी नहीं खाना चाहिये-जैसे कोई एक सेव का टुकड़ा स्वयं काट खाया हो और बाकी दूसरे को देवे। आहार में इन वर्ज्य बातों का त्याग कर देने से आहार की शुद्धि होती है। आहार की शुद्धी से मनःशुद्धि और मनःशुद्धि से परमात्मा का सतत और निरन्तर स्मरण होता है। *

दूसरे टीकाकार श्रीशंकराचार्यजीने इस का जो अर्थ लगाया है वह भैं आपको बताता हूं। संस्कृत भाषा में "आहार" शब्द भोजनके लिये प्रयोग कियाजाता है "आहार" जिस धातु से बना है उसका अर्थ है एकत्र करना, ग्रहण करना, अतः आहार का अर्थ हुआ "जो कुछ एकत्रित किया गयाया ग्रहण किया गया" वे क्या अर्थ करते है? वे कहते है "जब भोजन शुद्ध है तब मन शुद्ध रहता है" इसका ठीक अर्थ है कि हमें कुछ चीजों का वर्जन करना चाहिये ताकि हम इंद्रियों में आसक्त न

---

*".आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

—छान्दोग्योपनिषद्—

७–२६

हो जावें। प्रथम तो आसक्ति के विषय में हमें ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर आसक्ति न रहे। सब कुछ देखो, सब कुछ करो, सब कुछ छूओ पर किसी वस्तु में आसक्त मत होओ। ज्योंही वह अत्यन्त आसक्ति आई कि मनुष्य अपने आप को खो डालता है; तदुपरांत वह अपना स्वामी नहीं रह पाता उसी क्षण वह दास या गुलाम बन जाता है। यदि किसी स्त्री की दृढ़ आसक्ति किसी पुरूष पर हुई तो वह स्त्री उस पुरूष का गुलाम बन जाती है या वह पुरूष उस स्त्री का गुलाम बन जाता है। गुलाम बनने में कोई लाभ नहीं है। किसी मनुष्य के गुलाम बनने की अपेक्षा और अधिक अच्छी बातें इस संसार में हैं हर किसी से प्रेम करो, हर किसी की भलाई करो पर किसी के गुलाम मत बनो। क्यों कि दास या गुलाम बनने से प्रथम तो हमारा व्यक्तिशः अधःपात हो जाता है और दूसरे हम इससे अत्यंत स्वार्थी भी बन जाते है इसी दोष के कारण हम जिन पर प्यार करते हैं उनको लाभ पहुँचाने के लिये दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। संसार में अधिकांश दुष्कर्म व्यक्तिगत आसक्ति के कारण ही किये गये हैं। अतः ऐसी आसक्ति याने व्यक्तियों के प्रति आसक्ति का त्याग करके केवल सत्कर्मों के प्रति आसक्ति रखे और प्रत्येक व्यक्ति पर प्रेम करे। तत्पश्चात् ईर्ष्या या द्वेष के विषय में इन्द्रिय

भोगके किसी पदार्थ को पाने के लिये ईर्ष्या या द्वेष नहीं करना चाहिये। यह ईर्ष्या द्वेश ही सभी अनर्थों का मूल है और साथ ही अत्यन्त दुर्दम नीयत्री है। पुनः मोह या भ्रम। हम सदा एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ बैठते हैं और उसी गलत भावनासे कार्य करते हैं। फल यह होता है कि हम अपने ही ऊपर विपत्ति खींच लाते हैं। हम अनिष्ट को इष्ट समझ कर ग्रहण करते हैं। जो कुछ हमारे स्नायुओं में क्षण भरके लिये गुदगुदी पैदा कर दे उसे ही हम सर्वोत्तम वस्तु मान बैठते हैं, बाद में उससे हमें जब जोर से आघात पहुंचता है तब हमारी आंख खुलती है पर तब तक बहुत विलम्ब हो गया रहता है। प्रतिदिन हम ऐसी ही भूल करते हैं और अपनी सारी जिन्दगीभर इसी भूल में पड़े रहते हैं। जब इन्द्रियां बिना अत्यंत आसक्ति के, ईर्ष्या द्वेष रहित और मोह-भय रहित होकर इस संसार में कार्य करती है उसी कार्य का नाम है "शुद्ध आहार"। यह शंकराचार्यजी का मत है। जब आहार शुद्ध है तभी मन पदार्थों को ग्रहण करने और उनके विषय में अनासक्त और द्वेष और भय से रहित होकर विचार करने में समर्थ हो सकता है। तब मन शुद्ध होता है। और मन के शुद्ध होने पर ही उस मन में ईश्वर की सतत स्मृति-अव्याहत स्मृति-निरन्तर जागृत रहती है।

अन्ततः यही (श्री शंकराचार्य का) अर्थ ही सर्व श्रेष्ठ है ऐसा कहना हर किसी के लिये स्वाभाविक है पर मैं उसमें इतना और जोड़ देना चाहता हूं कि प्रथम मत (अर्थात् श्रीरामानुजाचार्य के भक्तों की भी अवहेलना मत करो। जब तुम आहार सामग्री की ही सावधानी रखोगे तभी और बातें हो सकेंगी। यद्यपि यह सत्य है कि मन ही स्वामी है पर हम में से कितने लोक इन्द्रियों के बंधन से मुक्त हैं? जड़ वस्तुओं से ही हम जकड़े हमें हुए हैं और जब तक हमें जड़ वस्तुओं का बंधन है तब तक जड़ वस्तुओं की सहायता लेनी चाहिये और बाद जब हम शक्तिशाली बन जावेंगे तब चाहे जो चीज खा सकेंगे। अतः हमें अपने खाने पीने की चीजों के संबंधमें श्रीरामानुजाचार्य के आदर्श के अनुसार सावधानी रखनी चाहिये। साथही साथ अपने मानसिक आहार के विषय में भी सावधान रहना चाहिये। खाद्य पदार्थ के विषय में सतर्क रहना आसान है पर मानसिक साधन भी उसके साथ चलता जावे तभी क्रमशः हमारी आत्मा की—हमारी धार्मिक प्रवृत्ति की—शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ेगी और शारीरिक वृत्तियों का साम्राज्य या भौतिक प्रवृत्ति की प्रबलता शिथिल होती जावेगी। तब ऐसा समय आवेगा कि तुम्हें किसी भी प्रकार के भोजन से अनिष्ट नहीं होता ऐसा तुम अनुभव करोगे। सबसे बड़ा डर यही है कि प्रत्येक

मनुष्य यही चाहता है कि सर्वोच्च आदर्श को कूद कर पहुँच जाऊँ। पर यह ध्यान रहे कि कूदने का तरीका ठीक नहीं है उससे हमे केवल गिरकर हाथ पैर ही तोड़ लेंगे। हम यहां बंधे हुए हैं और हमें धीरे २ अपने बंधन की जंजीर को तोड़ना है। इसीका नाम विवेक या "आहार मीमांसा" है॥

तत्पश्चात् विमोक या "स्वतंत्रता" का विषय आता है। जो ईश्वर के प्रति प्रेम करना चाहता है उसे अपनी उत्कट अभिलाषाओं का त्याग करना चाहिये ईश्वर को छोड़ अन्य किसी बात की कामना नहीं करना चाहिये। यह संसार परलोक के मार्ग में या परमार्थ प्राप्ति में सहायता देता है वहां तक तो ठीक है। हमें उच्चतर पदार्थों की प्राप्ति में जहांतक इन्द्रिय विषय सहायता देते हैं वहांतक तो वे भी उचित हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि यह संसार किसी साध्यतत्त्व की प्राप्ति के लिये केवल साधन मात्र है यह संसार ही इष्ट वस्तु या अन्तिमध्येय नहीं है। यदि यह संसार ही अन्तिम ध्येय होता तो हम इस भौतिक शरीर में ही अमर रहते और हम कभी न मरते। पर हम देखते हैं कि हमारे आसपास प्रतिक्षण मनुष्य मर रहे हैं और तिस परभी मूर्खतावश हम यह समझते हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे। और इसी विश्वास

से यह निश्चय कर बैठे हैं कि यही जीवन अन्तिम लक्ष्य या आदर्श है। हम में से ९९ प्रतिशत मनुष्यों की यही अवस्था है। हमें इस भाव का एकदम त्याग करना चाहिये। हमें पूर्ण बनाने में जहांतक सहायक हो सके वहीं तक यह संसार ठीक है और ज्योंही इस संसार से हमें ऐसी सहायता प्राप्त होना बन्द हुआ त्योंही यह संसार अनर्थ और निरा अनर्थ ही है। इसी तरह पति पत्नी, पुत्र, कन्या, धनदौलत, रुपये पैसे, विद्वत्ता या पाण्डित्य जब तक हमें उन्नतिके मार्ग में सहायक हैं तभी तक हमारे लिये इष्ट हैं और जब उनसे ऐसी सहायता न मिले तब वे केवल अनिष्टकारक है। यदि पत्नी हमारे परमात्मा की ओर जाने में सहायक हो तो वह सुपत्नी है इसी तरह पति और सन्ततिके सम्बंध में भी जानो। यदि धन के द्वारा हम दूसरों की भलाई कर सकते हैं तब तो वह काम की चीज है अन्यथा वह धन अनर्थ का घर है और जितने शीघ्र उससे हम अपना पिण्ड छुटा सकें उतना ही अच्छा हो।

तदुपरांत अभ्यास—मन सदा परमात्मा की हीं ओर जावे अन्य किसी वस्तु को हमारे मन में प्रविष्ट होनेका अधिकार नहीं है। मन निरन्तर ईश्वर का ही विचार करे यह यद्यपि कठिन है पर सतत अभ्यास से ऐसा हो सकता है। आज जो कुछ हम हैं वह हमारे पूर्व अभ्यास का परि-

णाम है और अब जैसा अभ्यास करेंगे वैसे ही हम भविष्य में बनेंगे। इसी से अब हमे दूसरी तरह का अभ्यास करना चाहिये। एक प्रकार की प्रवृत्तिने हमें इस ओर ला दिया है। दूसरी ओर मुंह फेर लो और जितनी जल्दी बने इस अवस्था के बाहर निकल जाओ। इन्द्रियोंका याने इन्द्रियविषयोंका ध्यान करते करते हम इस क्षणभंगुर जीवन में गिर पड़े हैं हमारी यह अवस्था है कि एक क्षण जो हम हंसते हैं और दूसरे ही क्षण रोने लगते हैं; हवा के हर एक झोंके के साथ चलविचल हो जाते हैं; एक शब्द या जबान के गुलाम और यहां तक कि रोटीके एक टुकड़े तक के गुलाम बन गये हैं। यह कितनी लज्जा की बात है। और फिर भी हम अपने को आत्मा कह कर पुकारते हैं। पर इस आत्मा कहलाने का हमें कोई लाभ नहीं। हम संसार के गुलाम हैं और इन्द्रियावलंबी, विषयाभिलाषी होने के कारण ही हमने अपनी ऐसी अवस्था कर डाली है। अब दूसरी दिशा को जावो, दूसरा मार्ग ग्रहण करो, ईश्वर का ध्यान करो परमात्मा का चिन्तन करो। तुम अपने मन में किसी भौतिक या मानसिक सुख भोग का चिन्तन मत करो और केवल परमात्मा की ओर ही अपने मनको लगाओ। जब मन किसी अन्य बात का विचार करने लगे तो उसको ऐसे जोर से घूंसा जमाओ कि मन वहां से लौट पड़े और ईश्वर चिन्तन में प्रवृत्त हो जावे। "जैसे तैल

एक पात्र से दूसरे पात्र में ढालते समय अविच्छिन्न धारा से गिरता है और जैसे घंटा नाद दूर में होता है और उसकी आवाज कान में एक लगातार धारा प्रवाह के रूप में आती है उसी प्रकार मन भी एक अविच्छिन्न लगातार धाराप्रवाह के रूप में ईश्वर की ओर निरन्तर दौड़ा करे" हमें इस अभ्यास का अवलम्बन केवल मनके लिये ही नहीं (करना चाहिये) वरन् हमें अपनी इन्द्रियों कोभी इसी अभ्यास में लगाना चाहिये। कर्ण द्वारा व्यर्थ बकवाद न सुनकर हमें केवल ईश्वर की ही वार्ता सुनना चाहिये। जिव्हा द्वारा निरर्थक बातें न बोलकर ईश्वरकी ही चर्चा करना चाहिये। फालतू किताबें न पढ़कर हमें ऐसे सद्-ग्रंथों का ही पाठ करना चाहिये जिनमें ईश्वर संबंधी विषयों का विवेचन हो।

ईशस्मरण का यह अभ्यास बनाये रखने के लिये हमें सबसे बढ़कर सहायता संभवतः गायन या संगीत द्वारा ही मिल सकती है। भक्ति के महान् आचार्य नारद से भगवान कहते हैः—

"हे नारद् न मैं वैकुण्ठ में ही रहता हूं और न मैं योगियों के हृदयों में ही रहता हूं। मैं तो जहां मेरे भक्तगण मेरी स्तुति का गान करते हैं वहीं रहता हूं॥"*

---

* "नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेन च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥"

मानव हृदयपर संगीत का इतना प्रबल प्रभाव पड़ता है कि वह क्षणभर में चित्त की एकाग्रता ला देता है। आप देखेंगे कि जड़, अज्ञानी, नीच और पशु वृतिवाले मनुष्य जो अपने मन को क्षणभर के लिये भी स्थिर नहीं कर सकते वे भी मनोहर संगीत का श्रवण करते ही तत्क्षण मुग्ध हो जाते हैं। सिंह, श्वान, मार्जार, सर्प आदिक पशुओं के भी मन संगीत द्वारा मोहित हो जाते हैं।

तत्पश्चात् क्रिया ( कर्म ) दूसरों की भलाई करना। ईश्वर का स्मरण स्वार्थी मनुष्य को नहीं रहता। हम जितने ही अपने से बहार दृष्टि डालेंगे, जितना ही दूसरों पर उपकार करेंगे उतनी ही हमारे हृदय की शुद्धि होगी और उसमें परमात्मा का निवास होगा। हमारे शास्त्रों में पांच क्रियाओं का उल्लेख है जिन्हें पंचविध पूजा या पंचमहायज्ञ कहते हैं।

प्रथम है 'स्वाध्याय' मनुष्य को प्रतिदिन कुछ पवित्र और शुभ अध्ययन करना चाहिये।

दूसरा है 'देवयज्ञ' ईश्वर देवता या साधुसंत की उपासना।

तीसरा है 'पितृयज्ञ' अपने पितरों के प्रति कर्तव्य।

चौथा है 'मनुष्य यज्ञ' अर्थात् मानव जाति के प्रति हमारा कर्तव्य। जबतक दरिद्री या गृहहीन निराश्रितों के

लिये घर न बनवा देवे तबतक मनुष्य को स्वयं घर में रहने का कोई अधिकार नहीं है। गृहस्थ का घर प्रत्येक दरिद्र और दुःखी के लिये सदा खुला रहना चाहिये तभी वह सच्चा गृहस्थ है। यदि कोई गृहस्थ यह समझता है कि मैं और मेरी पत्नी ये ही दोव्यक्ति संसार में हैं और केवल अपने और अपनी पत्नी के भोग के लिये ही वह घर बांधता है तो वह "ईश्वर का प्रेमी" कदापि नहीं हो सकता। यह उसका अत्यन्त स्वार्थी कार्य है। केवल अपनी ही उदरपूर्ति के लिये भोजन पकाने का किसी मनुष्य को अधिकार नहीं है। दूसरों को खिलाने के बाद जो बच रहे उसी को खाना चाहिये। भारत वर्ष में ऐसी साधारण प्रथा है कि जब ऋतुका फल-आम जामुन इत्यादि पहिले पहल बाजार में आता है तो कुछ फल खरीदकर पहिले गरिबों को दे देते हैं तत्पश्चात् उसे स्वयं खाते हैं। इस उत्तम प्रथा का अनुकरण करना इस देश (अमेरिका) में अच्छा होगा। ऐसे व्यवहार से मनुष्य स्वयं निःस्वार्थ बन जावेगा और अपनी पत्नी और बच्चों को भी सुशिक्षा प्रदान करेगा।

पुरातन काल में हीब्रु जाति के लोग पहिली फसल के फलों को ईश्वर के अर्पण किया करते थे। प्रत्येक पदार्थ का प्रथम भाग दरिद्रों को देना चाहिये। अवशिष्ट भागपर ही हमारा अधिकार है। दरिद्र ही परमात्मा के स्वरूप

(प्रतिनिधि) हैं। दुःखी ही ईश्वर का रूप है। जो मनुष्य बिना दिये खाता है और ऐसे खाने में सुख मानता है वह पाप का भागी होता है।

पांचवी क्रिया है 'भूतयज्ञ' या मनुष्य की अपेक्षा नीचे योनिवाले प्राणियों के प्रति हमारा कर्तव्य। समस्त जीवधारी मनुष्य के लिये ही बनाये गये हैं; इन प्राणियों की हत्या करके मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार उपयोग करे इसी लिये इन प्राणियों का निर्माण हुआ है यह भावना निरी पैशाचिक भावना है। यह शैतान का शास्त्र है भगवान का नहीं शरीर के किसी अंगका अमुक भाग हिलता है है कि नहीं यह देखने के लिये जीवधारियों को उठाकर काट डालना कैसा घृणित कार्य है-विचारो तो सही। मुझे खुशी है कि हिंदू लोग ऐसी बातों को गवारा नहीं कर सकते चाहे उन्हें अपने शासक विदेशी सरकार से इस के लिये कैसा भी प्रोत्साहन क्यों न मिले। हम जो अन्न खाते हैं उसके भी एक अंशपर अन्य जीवधारियों का अधिकार है। उन्हें भी प्रति दिन खिलाना चाहिये। प्रत्येक नगर में इन दीन लंगड़े या अंधे घोड़े, बिल्ली, कुत्ते और गायबैल इत्यादि पशुओं के लिये अस्पताल रहना चाहिये। वहां इनको खिलाया जावे और इन की शुश्रूषा की जावे।

इस के बाद की साधना है 'कल्याण' या पवित्रता जिस के अंतर्गत कई बातें हैं:—

प्रथम—'सत्यम्' या सत्यता। जो सत्यनिष्ठ हैं सत्यरूपी ईश्वर उनके समीप आता है। विचार, वाणी और कार्य सभी पूर्ण तया सत्य हों।

द्वितीय—'आर्जव'-निष्कपट भाव या सरलता। इस शब्द का अर्थ है सादगी, हृदय में कुटिलता या टेढ़ा-पन नहो 'हृदय आन, मुख आन' का व्यवहार न हो यदि कुछ कड़ा या अप्रिय भी होना पड़े तौभी सीधे चलना और टेढ़ापन काम में नहीं लाना।

"दया"—करुणा या सहानुभूति।

"अहिंसा"—मनसा, वाचा, कर्मणा किसीको हानि न पहुँचाना।

"दान"—दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सब से नीच मनुष्य वह है जिसका हाथ सदा अपनी ओर रहे और अपने लिये ही सब पदार्थों को लेने में लगा हो। और सब से उत्तम पुरूष वह है जिसका हाथ बाहर की ओर हो और दूसरों को देने में लगा हो। हाथ इसी लिये बनाया गया है कि सदा दान करते रहो। तुम स्वयं भूखों रह कर भी अपने पासका रोटीका अंतिम टुकड़ा-अन्नका अंतीम ग्रास-तक भी दे डालो। यदि दूसरों को देते देते उपवास से तुम्हारी मृत्यु भी होजाय तो क्षणभर

में ही तुम मुक्त हो जावोगे; तत्क्षण तुम पूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण तुम ईश्वर हो जाओगे। जिन मनुष्यों के वाल-बच्चे हैं। जिन के गले ये वालबच्चे पड़े हैं वे मनुष्य तो वद्ध हैं ही। वे दान नहीं कर सकते। वे वालवच्चों का सुख भोगना चाहते हैं अतः उन्हें उस लोग का मूल्य देना पड़ता है। क्या संसार में पर्याप्त वालवच्चे नहीं हैं? यह निरी स्वार्थ वुद्धि है कि मेरा भी एक वच्चा हो। *

इसके वादकी साधना है "अनद्साद्"–इसका शव्दार्थ है हताश न होना, निराश न होना याने प्रसन्नता। उदास रहना धर्म कदापि नहीं है, चाहे वह और कुछ भलेही हो। प्रसन्न रहने से और हंस मुख रहने से तुम ईश्वर के समीप पहुँच जाओगे। प्रार्थना की अपेक्षा प्रसन्नता के द्वारा ईश्वर के अधिक निकट पहुंच सकते हैं। ग्लानि पूर्ण या उदास मन से प्रेम कैसे हो सकता है? यदि ऐसे मनवाले प्रेम करने की वात कहें तो वह मिथ्या है। वे

---

* रामानुजाचार्यने एक और साधना "अनभिध्या" का उल्लेख किया है। अनभिध्या का अर्थ है दूसरों की वस्तु पर लोभ नहीं करना, व्यर्थ या अभिमान पूर्ण विचार न करना, और दूसरों द्वारा अपनी जो हानि हुई हो उस को सोचते न रहना। अनभिध्या से वह शुद्धता प्राप्त होती है जिसकी गणना "कल्याण" के अंतर्गत गुणों में श्री स्वामी (विवेकानंद) जी ने अन्यत्र की है (देखो–भक्तियोग–उपाय और साधन शीर्षक अध्याय)।

तो दूसरों को कष्ट देना चाहते हैं। धर्मान्धों (याकदरपंथियों) की ही बात सोचिये। ऐसे लोग मुखमुद्रा तो बड़ी गंभीर बनाते हैं पर उनका सारा धर्म वाणी द्वारा और कार्यों द्वारा दूसरों के साथ लड़ाई करते रहना ही हुआ करता है। उनके कार्यों की ओर भूतकाल के इतिहास में देखिये और यदि उन्हें स्वतंत्रता देदी जावे तो अभी वे क्या करेंगे इसे सोचिये। सारे संसार को यदि खून की नदी में डुबा देने से उन्हें कोई अधिकार प्राप्त होता हो तो वे कल ही ऐसा कर डालें क्योंकि उनका ईश्वर है। ऐसी वीभत्सता की आराधना करने और गंभीर मुखमुद्रा बनाये रहने के कारण उन के हृदय में प्रेमका नामोनिशान तक नहीं रह पाता और उन्हें किसी पर दया नहीं आती। अतः जो मनुष्य सदा अपने को दुःखी मानता है उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। "मैं कितना दुःखी हूं" ऐसा सोचते रहना आसुरी भावना है, धर्म नहीं है। हर मनुष्य को अपना २ बोझ ढोने के लिये है। यदि तुम दुःखी हो तो सुखी बनने का प्रयत्न करो, अपने दुःखों पर विजय प्राप्त करो। दुर्बलों को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती अतः दुर्बल कदापि न बनो। तुह्मारे अंदर असीम शक्ति है तुह्में शक्तिशाली बनना चाहिये। अन्यथा तुम किसी भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त करोगे? शक्तिमान विना हुए तुम ईश्वर को कैसे प्राप्त करोगे? साथ ही साथ अतिशय

हर्ष याने हर्षोद्रेक या उद्धर्ष से भी बचे रहो। अतिहर्ष की अवस्था में भी मन कभी शांत नहीं रह सकता मन में चंचलता आजाती है। और अति हर्ष के बाद सदा दुःख ही आता है। हंसी और आंसू का घनिष्ठ संबंध है। मनुष्य बहुधा एक अतिरेक से दूसरे अतिरेक की ओर दौड़ पड़ते हैं। चित्त सदा प्रसन्न रहे पर शान्त हो। उसे अति-शयिता की ओर कदापि भागने नहीं देना चाहिये क्योंकि प्रत्येक अतिशयिता का परिणाम उलटा ही हुआ करता है।

ये ही-श्रीरामानुजाचार्यजी के मतानुसार-भक्ति की साधनायें हैं॥

## द्वितीय अध्याय।

# प्रथम सोपान या भक्तिकी प्रथम सीढ़िया।

भक्ति के विषय में लिखने वाले तत्त्व वेत्तागण भक्ति की व्याख्या "ईश्वर के प्रति परम अनुराग" किया करते हैं। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य ईश्वर पर प्रेम या अनुराग क्यों करे। जब तक हम यह बात न समझ लें तब तक भक्ति के विषय में हमें कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जीवन के विलकुल भिन्न २ प्रकार के दो आदर्श हैं। सभी देशों के मनुष्य, चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों, यह जानते हैं कि मनुष्य देह भी है और आत्मा भी है। पर मनुष्य-जीवन के अन्तिम साध्य या उद्देश्य के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य देशों में साधारणतः मनुष्य के देहस्वरूप पर बहुत जोर दिया जाता है और हिंदुस्थान के भक्ति विषय के लेखकगण या तत्त्ववेत्ता लोग मनुष्य के आत्मस्वरूप पर जोर देते हैं। यही अंतर पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्रों के भौत्तिक भेद का उदाहरण है। साधारण बोलचाल में भी यही बात देखने में आती है। इंगलैंड में मृत्यू के सम्बंध में कहा जाता है कि मनुष्यने आत्मा का त्याग किया (a man gives up his ghost) और हिंदुस्थान

में कहते हैं कि मनुष्यने देह का त्याग किया (a man gives up his body) प्रथम पक्ष का (पाश्चात्यों का) भाव यह है कि मनुष्य एक देह है और उसकी आत्मा होती है। द्वितीय पक्ष (पौर्वात्यों का) यह भाव है कि मनुष्य आत्मा है और उसका देह होता है। इस मतभेद से कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि जिस देश में यह आदर्श है कि मनुष्य शरीर है और उसकी आत्मा होती है वहां शरीर पर ही सब जोर दिया जाता है। यदि उनसे पूछो कि मनुष्य किस लिये जीता है तो उत्तर यही मिलेगा कि इन्द्रियों का सुख भोगने के लिये; धन-दौलत, आप्त-बंधु और ऐहिक पदार्थों का उपभोग करने के लिये। इन से भी परे कोई वस्तु है ऐसा यदि तुम उसे बताओगे तो वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। भविष्य जीवन या परलोक विषयक उसकी केवल यही धारणा है कि यह सुखभोग सतत बना रहे। उसे बड़ा दुःख इस बात का है कि इसी लोक में वह सदा इस इंद्रिय सुखभोग में रह नहीं सकता और उसे इस लोक को छोड़कर जाना पड़ता है। पर वह तो यही समझता है कि चाहे जिस तरह भी हो वह एक ऐसे स्थान में जावेगा जहां उसे यही इन्द्रिय सुखभोग पुनः प्राप्त होगा। वहां उसे ये ही सब इन्द्रियां प्राप्त होंगी येही सब सुखभोग उसे मिलेंगे पर

वहां ये सब चीजें उच्च श्रेणी की होंगी और अधिक मात्रा में मिलेंगी वह ईश्वर की पूजा इसीलिये करता है कि ईश्वर उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उसके जीवन का लक्ष्य है इंद्रिय विषय भोग और वह यह समझता है कि ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति है जो अत्यधिक काल तक उसे यह विषय भोग दे सकता है। इसी कारण वह ईश्वर की पूजा या उपासना करता है। इस के विपरीत भारत वासियों की कल्पना यह है कि ईश्वर ही जीवन का लक्ष्य है। ईश्वर से परे या ईश्वर से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इन सब इंद्रिय सुख भोगों के मार्ग के भीतर से हम केवल इसी आशा से चले जा रहे हैं कि हमें आगे इनसे उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति होगी। केवल यही नहीं। यदि मनुष्य को इन इन्द्रिय विषयभोगों के सिवाय और कुछ नहीं मिलना है तो उसकी दशा बड़ी दुखदाई और भयानक है। हम प्रतिदिन अपने जीवन में देखते हैं कि मनुष्य के इन्द्रिय विषय भोग की मात्रा जितनी ही कम हो उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है। जब कुत्ता भोजन करता है तब उसकी ओर देखिये। भोजन करने से वैसा संतोष मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। शूकर की ओर देखिये। खाते खाते कैसी हर्षध्वनि करता है। ऐसा कोई मनुष्य प्राणी उत्पन्न नहीं हुआ जिसे भोजन करने में उतना आनंद आवे। नीच श्रेणीके प्राणियों की श्रवण शक्तिका विचार कीजिये। उनकी अवलोकन शक्ति

के विषय में सोचिये। उनकी समस्त इन्द्रियां कैसी उन्नत अवस्था को पहुँची हुई होती हैं। उनके इन्द्रिय सुख की मात्रा निःसीम होती है। वे इस इन्द्रिय सुख भोग से हर्ष और आनंद में एकदम उन्मत्त हो उठते हैं। मनुष्य भी जितनी ही नीची श्रेणी में होगा उतना ही अधिक आनंद उसे इन्द्रिय विषयों में आवेगा। मनुष्य जैसी २ उन्नति करता जावेगा वैसे २ विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जावेंगे। उसकी इन प्रवृत्तियों का जैसे २ विकास होता जावेगा वैसे २ उसकी इन्द्रिय विषयों में आनंद अनुभव करनेकी शक्ति क्षीण होती जावेगी। उदाहरण के लिये देखिये। यदि हम मानलें कि मनुष्य को अमुक परिमाण में शक्ति दी गई और उस शक्तिका व्यय वह अपने शरीर, मन या आत्मा के लिये कर सकता है। तो इन में से यदि वह किसी एक विभाग में अपनी सब शक्ति का व्यय कर दे तो बाकी विभागों में व्यय करने के लिये उस के पास उसकी शक्ति उतनी ही कम मात्रा में शेष रहेगी। सभ्य जातियों की अपेक्षा अज्ञानी या जंगली जातियों की इन्द्रिय शक्ति अधिक तेज़ होती है। यथार्थ में इतिहास से हम एक यह शिक्षाभी ग्रहण करते हैं कि जैसे २ राष्ट्र सभ्य होता जाता है वैसे २ उसकी स्नायु शक्ति ( मास्तिष्क शक्ति ) तो तेज होती जाती है पर शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जाती है। किसी

जंगली जाति को सभ्य बनाओ और यही बात तुम्हें दिखाई देगी। अन्य जंगली जाति इस पर चढ़ाई करके इसे जीत लेगी। प्रायः सदा जंगली जाति ही विजयी होती है। इस से हम देख सकते हैं कि यदि हमें सर्वदा इन्द्रियों के विषयभोग के सुख की ही इच्छा है तो हम अपने को पशुकी अवस्था में गिरा देंगे। जब मनुष्य यह कहता है कि मैं ऐसे स्थान में जाऊंगा जहां इन्द्रियों के सुखोपभोग की वृद्धि हो तब वह यह नहीं समझता कि मैं यह क्या मांग रहा हूं-मैं किस बात की इच्छा कर रहा हूं। ऐसी अवस्था तो उसे नरदेह त्याग कर पशुयोनि में पतित होने से ही मिल सकती है। शूकर को यह भावना कभी होती ही नहीं कि वह मैला खा रहा है। वह मल भक्षण ही उसका स्वर्ग है। यदि स्वर्ग के देवता भी उसे दर्शन देने आवें तो उनकी ओर वह लौटकर देखेगा तक नहीं क्योंकि उस का सारा अस्तित्व तो उसके खाने में ही समाया है।

इन्द्रिय विषय सुखों से परिपूर्ण स्वर्ग की कामना करनेवाले मनुष्य भी उसी प्रकार हैं वे शूकर की तरह इन्द्रिय विषयों की कीचड़ में लोट रहे हैं और उस के परे वे कुछ देख ही नहीं सकते। यही इन्द्रिय भोग वे चाहते हैं और इस का छूटना ही उनके लिये स्वर्ग का खोना है। भक्त शब्द का अत्युच्च अर्थ में प्रयोग करते हुए यही कहना

पड़ेगा कि ऐसे मनुष्य भक्त कभी नहीं हो सकते। ये मनुष्य ईश्वर के सच्चे प्रेमी कदापि नहीं बन सकते। फिर भी यदि इस निचली श्रेणी का आदर्श थोड़ेही समय के लिये रहे तो समय पाकर यह आदर्श बदल जावेगा। हर एक मनुष्य यह समझने लगेगा कि इससे कोई उच्चतर वस्तु है जिसका ज्ञान उसे पहिले नहीं था। और इस प्रकार तब जीवन के प्रति और इन्द्रिय विषयों पर की उसकी आसक्ति क्रमशः नष्ट हो जावेगी। जब मैं छोटा बालक था और पाठ शाला में पढ़ रहा था उस समय मेरे एक सहपाठी से मिठाई या ऐसे ही किसी अन्य वस्तु के लिये झगड़ा हो पड़ा। वह लड़का अधिक बलवान् था। इस कारण उसने वह वस्तु मेरे हाथ से छीन ली। उस समय मेरे मन में जो भाव आया सो मुझे अभी भी स्मरण है। मैं सोचने लगा इस लड़के के समान दुष्ट संसार में दुसरा कोई है ही नहीं और जब मुझ में ताकत आजावेगी तब मैं इस दुष्ट को दण्ड दूंगा; इस की दुष्टता को देखते हुए कोई भी दण्ड इसके लिये पर्याप्त नहीं है। अब हम दोनों ही बड़े होगये हैं और हम दोनों परममित्र बन गये हैं। इसी तरह इस संसार में सर्वत्र छोटे २ बच्चे ही भरे पड़े हैं। खानेपीने और अन्य इन्द्रियों के भोग्य वस्तुही इन बच्चों के सर्वस्व है। इन वस्तुओं के एक टुकड़े का भी खोना इनको भयानक प्रतीत होता है। ये बच्चे केवल

रोटी-पूरी या माल-पूआ का ही स्वप्न देखा करते हैं। भविष्य जीवन या परलोक विषयक उनकी कल्पना भी यही है कि वहां पूरी-मालपूआ का ढेर लगा रहेगा। अमेरिकन इंडियन को देखो। वह यही सोचता है कि परलोक में उसे शिकार की सामग्री बहुत मिलेगी और उसी से उसका भविष्य जीवन सुखमय बनेगा। हर किसी को अपनी २ वासना के अनुसार ही स्वर्ग की कल्पना रहा करती है। पर कालान्तर में जैसे २ हम बड़े होते जाते हैं हम उच्चतर वस्तुओं को देखते जाते हैं और इन सब के परे और भी उच्चतर दृश्यों के आभास हमें प्राप्त होते हैं।

आधुनिक काल की साधारण प्रथा के अनुसार सभी वस्तुओं के प्रति अविश्वास करके हमें परलोक विषयक सभी धारणाओं का त्याग नहीं करना चाहिये। इस तरह हर बात को उड़ा देना नाश या संहार का लक्षण है। नास्तिक जो सभी बातों को उड़ा देता है वह भूला हुआ है। पर भक्त तो इससे और ऊंचा देखता है। नास्तिक स्वर्ग जाना नहीं चाहता क्योंकि वह तो स्वर्ग को मानता ही नहीं। पर भगवद्भक्त भी स्वर्ग जाना नहीं चाहता क्योंकि उस की दृष्टि में स्वर्ग बच्चों का खिलौना मात्र है। भगवद्भक्त तो चाहता है केवल ईश्वर को। ईश्वर से बढ़कर साध्य आदर्श या लक्ष्य हो ही क्या सकता है? स्वयं परमात्माही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। उसी

ईश्वर का दर्शन करो। उसी ईश्वर का आनंद लूटो। हम ईश्वर से बढ़कर उच्च वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते क्योंकि ईश्वर ही पूर्ण स्वरूप है। हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनंद की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस "प्रेम" शब्द के कई अर्थ हैं। इसका अर्थ संसार का साधारण स्वार्थमय प्रेम नहीं है इस संसारी प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चों और अपनी स्त्री के प्रति जो हमारा प्रेम होता है वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतथा निःस्वार्थ हो वही प्रेम प्रेम है और वह ईश्वर का प्रेम है। उस प्रेम को प्राप्त करना बड़ी कठिन बात है। हम इन भिन्न २ प्रेम-संतति प्रेम, पितृप्रेम, मातृप्रेम, इत्यादि के मार्ग में से जा रहे हैं। हम प्रेम की प्रवृत्ति का धीरे २ अभ्यास कर रहे हैं पर बहुधा इस से कुछ सीख नहीं पाते; बल्कि हम एक ही सीढ़ी पर, एक ही व्यक्ति से, आसक्त हो जाते हैं या बंध जाते हैं। कभी २ मनुष्य इस बंधन से छूट भी जाते हैं। इस संसार में मनुष्य सदा स्त्रियों के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ते फिरते हैं। कभी २ उन्हें ऐसी जबरदस्त ठोकर लगती है कि उनकी आंख खुलती है और उन्हें प्रतीत होता है कि यह संसार यथार्थ में क्या है। इस संसार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। मनुष्य को पता लग जाता

है कि मानव प्रेम हर तरह से पोला है निःसार है। मनुष्य प्रेम कर नहीं सकते। वे तो केवल बातें ही करना जानते हैं। पत्नी कहती है कि मैं पति से प्रेम करती हूं और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्योंही पति की मृत्यु हो जाती है तो सब से पहिले पत्नी का ध्यान अपने पति के जमा किये हुए बैंक के धन के हिसाब की ओर जाती है और पत्नी यही सोचने लगजाती है कि कल मैं क्या क्या करूंगी। पति पत्नी पर प्रेम करता है पर जब पत्नी बीमार होजाती है और उस का रूप नष्ट हो जाता है या यौवनकाल बीतकर पत्नी को बुढ़ाया घेर लेता है या पत्नी कोई गलती कर डालती है तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। संसार के समस्त प्रेम प्रदर्शन में निरा दम्भ है, निःसारता है, खोखला पन है।

नाशवान् (सान्त) वस्तु प्रेम नहीं कर सकता और नाशवान् (सान्त) वस्तु पर प्रेम नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य के प्रेम का पात्र हर क्षण मृत्युमुख में है और उस मनुष्य की आयुवृद्धि के साथ साथ सदा मन में भी परिवर्तन हो रहा है ऐसी अवस्था में संसार में शाश्वत प्रेम-स्थायी प्रेम-प्राप्त करने की आशा ही कहां हो सकती है? ईश्वर को छोड़ अन्यत्र प्रेम कैसे ठहर सकता है? तो

फिर इन भिन्न २ प्रेमों का क्या प्रयोजन! ये प्रेम केवल सीढ़ियां या सोपान मात्र हैं। पीछे एक ऐसी शक्ति है जो हमें सदा यथार्थ प्रेम की ओर प्रेरित कर रही है। हमें पता नहीं कि हम यथार्थ वस्तु को कहां ढूंढें। पर यह प्रेम ही हमें उस मार्ग में-याने उस की खोज में-अग्रसर कर रहा है। पुनः २ हमें अपनी गलती सूझती है। हम एक वस्तु को ग्रहण करते हैं। पर देखते हैं कि वह हमारी मुट्ठी से निकली जा रही है तब हम किसी दूसरी वस्तु को पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार आगे ही आगे बढ़ते चले जाते हैं। तब हमें प्रकाश दिखाई देता है। तब हम परमात्मा के पास पहुँचते हैं और वह ईश्वर ही एक मात्र प्रेमी है। उस के प्रेम में कभी कोई विकार नहीं होता और उसका प्रेम हमें सदा अपने में लीन करने को प्रस्तुत रहता है। उस के प्रेम में कभी कोई अंतर नहीं पडता और वह सदा हमें अपनाने को तैयार रहता है। यदि मैं तुम लोगों को कष्ट देऊं तो तुम मुझे कब तक क्षमा करोगे? पर वह क्षमा कर सकता है। उस के मन में क्रोध, घृणा या द्वेष है ही नहीं। वह अपनी समता कभी नहीं खोता। वह सदा समान व्यवहार रखता है। वह न कभी मरता, न कभी जन्मही लेता। ईश्वर के अतिरिक्त ऐसा कौन हो सकता है? पर ईश्वर प्राप्तिका मार्ग बहुत लम्बा है और बहुत कठिन है। बहुत ही थोड़े मनुष्य ईश्वर को प्राप्त

करते हैं। हम सब हाथ पैर पटकने वाले बच्चे हैं। लाखों मनुष्य इस भक्ति मार्ग का या धर्ममार्ग का केवल रोजगार करते हैं। हर कोई उस की बातें करता है पर विरला ही उस भक्ति को प्राप्त कर पाता है। शताब्दि भर में बहुत थोड़े मनुष्य ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करते हैं। इन मनुष्यों से समस्त देश कृतार्थ और पावन हो जाता है जैसे सूर्योदय से समस्त अंधकार दूर हो जाता है। जब ईश्वर के भक्त का अवतार होता है तब सारा देश धन्य और पवित्र हो जाता है। सारे संसार में एक शताब्दि भर में ऐसे भगवद्भक्त तो बहुत ही कम संख्या में जन्म लेते हैं पर ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न हम सब को करना चाहिये और यह कौन जानता है कि ईश्वर का पूर्ण प्रेम तुम को या मुझे ही इसके बाद के (दूसरे) क्षण में ही न प्राप्त हो जाय। अतः हमें इसके लिये खटपट करते रहना चाहिये। हम कहते हैं स्त्री अपने पतिपर प्रेम करती है और स्त्री भी समझती है कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा अपने पति में ही लीन है। पर उसे अब एक बालक उत्पन्न होता है और उस स्त्री के प्रेम का आधा या उससे भी अधिक अंश उस बालक की ओर खिंच जाता है। उस स्त्री को स्वयं ही ऐसा मालूम होने लगता है कि अब उस का प्रेम पति की ओर उसी प्रकार का नहीं रहा। इस तरह पिता के प्रेम को भी जानिये। हम यह सदा ही देखते

हैं कि जब हमें अधिक प्रेम पात्र वस्तु प्राप्त हो जाती है तब हमारे पहिले के प्रेम का धीरे २ लोप हो जाता है। जब तुम पाठशाला में पढ़ते थे तब समझते थे कि तुह्मारे कुछ सहपाठी ही तुह्मारे जीवन में सब से बढ़कर तुह्मारे प्रेमी हैं या उस समय तुह्मारे माता पिता ही तुह्में सब से अधिक प्यारे थे। उस के बाद तुम पति या पत्नी बने और तुरन्त ही तुह्मारे पूर्वभाव बदल गये और तुह्मारे जीवन के ये नये प्रेमी ही तुह्मारे सर्वोच्च प्रेम पात्र बन गये। एक तारा का उदय होता है उस के बाद उससे बड़ा तारा उगता है तत्पश्चात् उस से भी बड़ा तारा दिखाई देता है और अन्त में सूर्य का दर्शन होता है और तमाम छोटे प्रकाशक ग्रह विलीन हो जाते हैं। परमात्मा ही इस तरह का सूर्य है और ये कम श्रेणी के प्रेमपात्र गण तारामंडल हैं। और जब वह सूर्य प्रगट होता है तब मनुष्य को उन्माद हो जाता है। ऐसे मनुष्य को श्री० इमर्सन "भगवत्प्रेमोन्मत्त पुरुष" कहते हैं अन्त में वह मनुष्य ईश्वररूप हो जाता है और समस्त पदार्थ उस प्रेम के ही एक मात्र समुद्र में डूब जाते हैं। साधारण प्रेम केवल पाशविक आकर्षण मात्र होता है। यदि ऐसा न होता तो स्त्रीपुरुष के भेद की आवश्यकताही क्या थी? यदि मूर्ति के सामने कोई घुटना टेकता है तब तो वह कार्य घृणित मूर्तिपूजा कहलाता है और जब वह अपने

पति या पत्नी के पैरोंपर गिरता है तो वह आदर्श कार्य समझा जाता है।

पर तुम्हें तो इन छोटे प्रेमों के भीतर से ही जाना होगा। तुम्हें प्रथम अपना मार्ग परिष्कृत करना होगा। तुम अपने जीवन को जिस दृष्टि से देखोगे उसी के आधार पर तुम्हारे प्रेम का सारा सिद्धान्त अवलंबित रहेगा। इस संसार को ही जीवनका अंतिम ध्येय और साध्य वस्तु मान लेना निरी पाशविक और अवनतिकारी भावना है। जो मनुष्य ऐसी भावना लेकर अपने जीवन पथ पर कदम रखता है वह अपने को अवनत करता है; अपने आप को गिराता है। ऐसा मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता; अपने को ऊँचा नहीं उठा सकता: वह कभी भी अपने पीछे रहनेवाली उस अन्तर्हित ज्योति का आभास प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो सदा इन्द्रियों का ही दास बना रहेगा। वह तो सदा केवल रुपये जुटाने की ही खट पट करता रहेगा ताकि उसे खाने को कुछ रोटियां मिल जाया करें। ऐसी जिन्दगी जीने से तो मर जाना ही बेहत्तर है। ऐ इस संसार के गुलामो! अपनी इन्द्रियों के दासो! अपने को जागृत करो। इस से बढ़ कर कुछ उच्च तत्त्व और भी है। आप क्या यही समझते हैं कि यह मानव–यह अनन्त आत्मा–अपनी आंख कान और नाक का गुलाम बनने के लिये

ही पैदा हुआ है ? इस के पीछे एक अनंत सर्वदर्शी आत्मा विद्यमान है जो सब कुछ करने में समर्थ है जो समस्त बंधनों को तोड़ सकता है। यथार्थ में हम ही वह आत्मा हैं और प्रेम के द्वारा ही वह शक्ति हमें प्राप्त होती है। अतः यह स्मरण रखो कि यही हमारा आदर्श है। पर यह आदर्श हमें कलही मिलनेवाला नहीं है। हमें वह आदर्श मिल गया ऐसी कल्पना भले ही कर लें पर आखिर वह कल्पना मात्र ही होगी। वह आदर्श हम से दूर-और बहुत दूर-है। जिस अवस्था में मनुष्य अभी है हमें उसी पर ध्यान रख कर हमें-यदि संभव हो तो-उसे आगे बढ़ने में सहायता देना चाहिये। मनुष्य इस जड़ सृष्टि को यथार्थ मानता है। तुम हम सब जड़वादी ही हैं। हम ईश्वर के संबंध में, आत्मा के संबंध में, बातें करते हैं सो ठीक है पर ये तो समाज में प्रचलित कुछ शब्द मात्र ही हैं। हमने इन शब्दों को तोते की भांति रट लिया है और हम उन शब्दों का उच्चारण कर दिया करते हैं। अतः हम जिस अवस्था में हैं जड़वाद को माननेवाले हैं-उसका ध्यान रखना होगा। हमें जड़ वस्तुओं की सहायता भी लेनी होगी और इसी प्रकार क्रमशः धीरे २ आगे बढ़ना होगा तब हम यथार्थ आत्मवादी बनेंगे। तभी हम अपने आपको आत्मा हैं ऐसा अनुभव करने लगेंगे। तभी हम आत्मा को समझेंगे और हमें यह पता लगेगा कि यह

संसार जिसे हम अनंत कहा करते हैं वह उसके भीतर रहनेवाले वस्तु का केवल बाह्य और स्थूल स्वरूप मात्र है। परन्तु इस के सिवाय कुछ और भी आवश्यक है। आप लोग बाइबिल में ईशूखिस्त के "पर्वत पर के उपदेश" (Sermon on the Mount) में पढ़े हैं-"मांगो और वह तुम को दे दिया जावेगा ढूंढ़ो और तुम पाजाओगे, दरवाजा खटखटाओ और वह तुम्हारे लिये खोल दिया जावेगा" कठिनाई तो यही है। ढूंढ़ता कौन है? चाहता कौन है? हम सब कहते हैं हम ईश्वर को जानते हैं। यदि एक मनुष्य "ईश्वर नहीं है" यह सिद्ध करने के लिये एक बृहद्ग्रंथ लिखता है तो दूसरा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये। एक मनुष्य अपनी सारी उम्र भर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ही अपना कर्तव्य समझता है तो दूसरा उस मत का खण्डन करना ही उचित समझता है और इसी कारण वह मनुष्यों को यही उपदेश करते फिरता है कि ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन या मण्डन करने के लिये पुस्तकें लिखने का क्या प्रयोजन, ईश्वर-हो चाहे न हो इससे बहुसंख्यक जनताको मतलब ही क्या है? इस शहर के रहने वाले अधिकांश मनुष्य प्रातःकाल उठते हैं और जलपान करते हैं। ईश्वर उन्हें कपड़ा पहिनने या खाने में सहायता देने थोड़े ही आता है। मनुष्य काम करने के

लिये जाता है, सारा दिन वह काम करता है और पैसे कमाता है, अपना धन बॅङ्क में जमा करता है और घर लौटता है, भोजन करता है और सोजाता है यह सब काम वह ठीक यंत्र के माफिक करता है। इन सब कामों को करते समय ईश्वर का कोई विचार उसके मन में नहीं आता। ईश्वर की कोई आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। ऐसा करते २ एक दिन काल आ पहुँचता है और पुकारता है "चलो!" उस वक्त वह मनुष्य कहता है "जरा ठहरो, मुझे कुछ मोहलत और चाहिये; मेरा बेटा जोहन थोड़ा बड़ा हो जाय"। मगर काल कहता है- "चलो, तुरन्त चलो"। ऐसा ही हुआ करता है। वह बेचारा जोहन का बाप चला। उस बेचारे से हम क्या कहें? उसकी जिंदगी में उसे ऐसी कोई वस्तु ही नहीं मिली जो उसे जतला देती कि ईश्वर ही सर्वोत्तम पदार्थ है। संभवतः वह पूर्व जन्म में शूकर रहा हो और अब मनुष्य योनि में जन्म लेकर बहुत बेहत्तर अवस्था में है। पर सारे संसार में तो जोहन के ही पिता नहीं हैं। यहां कई ऐसे भी लोग हैं जिनकी कुछ जागृति हो चुकी है। कोई विपत्ती आपड़ती है, हमारे किसी प्रियतम की मृत्यु हो जाती है, जिसपर हमने अपनी सारी आत्मा समर्पित कर दीथी, जिस के लिये हम सारे संसार को-अपने सगे भाई को भी-ठगा करते थे, जिस के लिये हम हर प्रकार के

घृणित कार्य करते नहीं हिचकते थे, हमारे उसी प्रियतम का विनाश हो जाता है तब हमें एक जोरदार आघात पहुँचता है। हमारी आत्मा से एक आवाज निकलती है और पूछती है "कहो अब आगे क्या होगा ?" जिस पुत्र को धनी बनाने के लिये हर किसी को वह ठगता था, यहां तक कि स्वयं भी भूखा रह जाता था वही पुत्र मर जाता है। तब उस आघात से पिता की आंखें खुलती हैं जिस पत्नी की प्राप्ति के लिये सदा उन्मत्त सांड़ की तरह हर किसी से वह झगड़ा करते फिरता था, जिस के लिये नये २ वस्त्र और अलंकारों का आयोजन करने के लिये वह धन संचित करता था, वही पत्नी एक दिन अकस्मात् मर जाती है। तब क्या होता है ? कभी २ मृत्यु का दौरा होता है और उस से कोई आघात नहीं पहुँचता पर ऐसे प्रसंग बहुत कम होते हैं जब हमारे प्रिय पदार्थ हमारे हाथ से खिसक जाते हैं तब हम में से अधिकांश तो यही चिल्ला उठते हैं कि "अब कैसा होगा ?" इन्द्रियों पर यह हमारी कैसी घोर आसक्ति है ? आपने सुना ही है कि डूबता मनुष्य तिनके का सहारा पकड़ता है। मनुष्य पहिले तो तिनके को ही पकड़ता है और जब वह तिनका उसका काम नहीं देता तभी वह पुकारता है कि "मुझे कोई उबारो"। तथापि मनुष्यों को उच्चतम वस्तुओं की प्राप्ति होने के पूर्व अपने पिछले दुष्कर्मों का कडुआ फल अनुभव करना ही पड़ता है।

पर यह भक्ति एक " धर्म " है। धर्म बहुत से लोगों की चीज़ नहीं होती। ऐसा होना असंभव है। घुटनों की कवायत खड़े होना, बैठ जाना यह तो बहुत से लोगों के करने की चीज़ हो सकती है पर 'धर्म' तो केवल थोड़े ही मनुष्यों की वस्तु होती है। हर देशमें कुछ ही सैकड़ मनुष्य ऐसे होते हैं जो धार्मिक हो सकते हैं बाकी लोग धार्मिक नहीं हो सकते क्यों कि वे तो जागृत ही नहीं होंगे; उन्हें इस की आकांक्षाही नहीं है। मुख्य बात तो है ईश्वर प्राप्ति की आकांक्षा या लालसा। सामान्यतः हमें ईश्वर के सिवाय अन्य सभी वस्तुओं की आकांक्षा होती है क्योंकि हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाहरी संसार के द्वारा हो जाती है। और जब हमें इस बाह्य संसार के उस पार की चीजों की आवश्यकता होती है तभी हम उनकी पूर्ती अन्तःस्थ तत्त्वसे या ईश्वर से कराना चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ जब तक इस भौतिक सृष्टि की संकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओं तक ही परिमित रहती हैं तब तक हमें ईश्वर की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। और जब हम यहां की हर एक चीजों से ऊब जाते हैं तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिये इस सृष्टि के परे दौड़ती है। और जब आवश्यकता होगी तभी तो उसकी पूर्ति होगी। इस लिये इस संसार की बालक्रीडा से-जितनी जल्दी हो सके-निबट लो। तभी

तुम्हें इस संसार की उस पार की वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी और धर्म के प्रथम सोपान (या पहिली सीढ़ी) में तुम कदम रखोगे।

धर्म का एक वह रूप है जो केवल फैशन (शौकीनी) प्रथा) हो गया है। मेरे मित्र की बैठक में सजावट की सामग्रियों में जापानी गमले हैं-संभवतः यही फैशन है-अतः मुझे भी जापानी गमला रखना ही चाहिये-चाहे मुझे उस के लिये हज़ार टके ही भले खर्चे करने पड़ें। इसी तरह मैं फैशन के लिये धार्मिक बनता हूं और किसी चर्च या धर्म संप्रदाय में शामिल हो जाता हूं। "भक्ति" ऐसों के लिये नहीं है। भक्ति का उद्गम तो सच्ची "आतुरता" (व्याकुलता) से होता है। "आतुरता" तो तभी कहेंगे कि जब उसके बिना जीना असंभव हो। हमें श्वास लेने के लिये हवा की आवश्यकता है; हमें भोजन चाहिये; हमें कपड़े चाहियेः इन के बिना हम जी नहीं सकते जब मनुष्य इस संसार में किसी स्त्री पर प्रेम करता है तब समय २ पर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उस स्त्री के बिना मैं जी नहीं सकता यद्यपि उस की यह भावना मिथ्या है। जब पति मरता है तब पत्नी समझती है कि मै पति के बिना नहीं जी सकती-तिसपर भी वह जीती ही है। किसी वस्तु की आवश्यकता की जांच यही है कि उस

वस्तु के अभावमें जीना असंभव हो। या तो उस वस्तु की प्राप्ति ही हमें हो जाय या उस के विना हम मर ही जाँय। जब समय आता है तब हमें ईश्वर के संबंध में ऐसा ही लगता हैं। याने संसार के उस पार की किसी वस्तु की जरूरत हमें मालूम पड़ती है-ऐसी वस्तु जो इन समस्त जड़ या भौतिक शक्तियों से परे है-उन से ऊपर है-तभी हम "भक्त" बनते हैं। जिस समय, मानों जैसे क्षणभर के लिये बादल हट जाता है और हम उस पारसे परम ज्योति की एक झलक (झांकी) पा जाते हैं और तब उस एक क्षणभर के लिये हमारी ऐहिक नीच वासनाएँ समुद्र में एक बूंद के समान (विलीन) मालूम पड़ती हैं उस समय हमारी ये छोटी २ जिन्दगियां किस गिनती में हैं। ऐसा ही समय आने पर आत्मा की उन्नती होती है और आत्मा को ईश्वर का अभाव खटकता है और आत्मा को ईश्वर की प्राप्ति के लिये तीव्र उत्कंठा होती है, याने भगवान् को पाने के लिये जीव छटपटाता है।

अतः पहिली सीढ़ी तो यह है-हमें कौनसी वस्तु चाहिये? क्या हमें ईश्वर चाहिये? हम यह प्रश्न अपने आप प्रति दिन किया करें। तुम संसार की सारी पुस्तकें पढ़ जाओ; पर यह प्रेम तो वाक्शक्ति द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है; तीव्र बुद्धि या अनेक शास्त्रों के अभ्यास द्वाराभी

पानेकी वस्तु वह नहीं है। जिसे ईश्वर की चाहना है उसे ही प्रेम की प्राप्ति होगी। उसी के पास भगवान् अपने आप को प्रगट करेंगे। * प्रेम सर्वदा पारस्परिक होता है और अपना प्रभाव प्रेमपात्र पर डालता है। तुम चाहे मुझ से घृणा करो और यदि मैं तुम पर प्रेम करना आरंभ कर दूं तो तुम मुझे दूर भगाओगे। पर यदि मैं तुम पर सतत प्रेम करता ही रहूं तो महिने या वर्षभर में तुम मुझ पर अवश्य ही प्रेम करने लगोगे। यह एक सर्व प्रसिद्ध मनो वैज्ञानिक घटना है। जिस प्रकार की की व्याकुलता से प्रेमिका स्त्री अपने मृत पति की चिन्तना करती है उसी प्रकार के प्रेम से यदि हम ईश्वर प्राप्ति के लिये व्याकुल हों तो हमें ईश्वरकी प्राप्ति अवश्य होगी और विविध ग्रंथों से और शास्त्रों से हमें कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। पुस्तकों को रट कर हम तोते बन जाते हैं। पुस्तकों को पढ़ कर कोई यथार्थ विद्वान् नहीं हो सकता जो मनुष्य "प्रेम" का सिर्फ एक ही शद्व पढ लेता है वही यथार्थ में विद्वान् बन जाता है। अतः हम

---

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
—कठोपनिषद् १-२-२३

में सर्व प्रथम उस लालसा (आकांक्षा या व्याकुलता) के आने की जरूरत है। प्रतिदिन हम अपने आप यही प्रश्न करें-क्या हमें ईश्वर को पाने की लालसा है? क्या हम ईश्वर को पाने के लिये व्याकुल है?। जब हम धर्म की बातें करते हैं और खासकर जब हम ऐसा ऊँचा आसन ग्रहण करके दूसरों को उपदेश करने लगते हैं तब हमें अपने तईं यही प्रश्न पूछना चाहिये। मैं कई बार देखता हूं कि मुझे ईश्वर की चाह नहीं। मुझे रोटी की (भोजन की) चाह उससे अधिक है। यदि मुझे एक टुकड़ा रोटी न मिले तो मैं पागल हो जाऊंगा। यदि हीरे की अलपीन न मिले तो बहुतेरी सभ्य महिलाएँ पागल हो जावेंगी। पर उन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लिये इसी प्रकारकी लालसा नहीं है। विश्व के " उस एक मात्र यथार्थ वस्तु" का उन्हें ज्ञान नहीं है। हमारी भाषा में एक कहावत प्रचलित है " मारे तो हाथी और लूटे तो भांडार "। भिखारियों को लूट कर या चींटियों की शिकार करके क्या लाभ हो सकता है? अतः यदि प्रेम करना है तो ईश्वर से प्रेम करो इन सांसारिक वस्तुओं की क्या परवाह है? मैं स्पष्ट वक्ता हूं पर बातें आपकी भलाई की ही कहूंगा। मैं आप से सच्ची बातें ही कहना चाहता हूं। मैं आपकी चापलूसी नहीं करना चाहता चापलूसी करना मेरा काम नहीं है। तुम मेरे बच्चों के

मानिन्द् हो। मैं तुम से सच्ची बात कहना चाहता हूं। यह संसार बिलकुल मिथ्या है। संसार के सभी आचार्य इसी नतीजे पर पहुँचे हैं। इस संसार से निकलने का ईश्वर के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। वही (ईश्वर) हमारे जीवन का ध्येय है। संसार को जीवन का ध्येय बताने वाले मत अनर्थकारी हैं। इस संसार और इस शरीरका मूल्य भी है पर उन का मूल्य गौण है। संसार और शरीर हमारे साध्य (ईश्वर) की प्राप्ति के केवल साधन मात्र हैं। संसार ही हमारा साध्य नहीं बन जाना चाहिये दुर्भाग्य वश अत्यधिक बार हम संसार को साध्य वस्तु और ईश्वर को साधन सामग्री बना डालते हैं। हम देखते हैं कि लोग गिर्जाघर में जाकर कहा करते हैं "हे ईश्वर! मुझे अमुक वस्तु दे तमुक वस्तु दे, हे ईश्वर! मेरी बीमारी को आराम कर"। उन को तो चाहिये सुंदर निरोग शरीर और उन्हों ने सुन रक्खा है कि ऐसा कोई व्यक्ति एक जगह बैठा है जो उन के इस काम को कर देगा इस लिये वे जाते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं। धर्म के ऐसे विचार रखने की अपेक्षा तो नास्तिक होना बेहत्तर है। जैसा मैं बता चुका हूं यह "भक्ति" सर्वोच्च आदर्श है मैं यह नहीं जानता कि भविष्य में करोड़ों वर्ष में हमें उस आदर्श (या भक्ति) की प्राप्ति होगी या नहीं। पर हमें तो उस (भक्ति) को अपना सर्वोच्च आदर्श बनाना ही

चाहिये और अपनी समस्त इन्द्रियों को उस सर्वोच्च आदर्श की ओर ही लक्ष्य करने में लगा देना चाहिये। इससे यदि हमें अपने साध्य की प्राप्ति न भी होगी तो कम से कम हम उस के अधिक निकट तो पहुँच ही जावेंगे। संसार और इन्द्रियों के जरिये ही धीरे २ अपना काम करके ईश्वर तक पहुँचना है।

## तृतीय अध्याय।

# भक्ति के आचार्य।

प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अंत में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था का लाभ करेंगे यह बात निश्चित है। हमारी वर्तमान् अवस्था हमारे पिछले कार्यों और विचारों का परिणाम है और हमारी भविष्य अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारों पर अवलंबित रहेगी। ऐसा होते हुए भी हमारे लिये दूसरों से सहायता प्राप्त करने का मार्ग बन्द नहीं है। दूसरों की सहायता पाने पर आत्म शक्तियों का विकास सदा अधिक तेजी से हुआ करता है। यहां तक कि संसार में अधिकांश मनुष्यों को दूसरों की सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता हुआ करती है अर्थात् दूसरों की सहायता के बिना उनकीउन्नति हो ही नहीं सकती। जागृत करने वाला प्रभाव बाहर से आता है और हमारी अंतःस्थित गूढ़ शक्तियों को जागृत करता है। तभी से हमारी उन्नति का श्रीगणेश होता है आध्यात्मिक जीवन का आरंभ होता है और अंत में हम पवित्र और पूर्ण बन जाते हैं। यह जगानेवाली शक्ति जो बाहर से आती है वह हमें पुस्तकों

से प्राप्त नहीं हो सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही जागृति लाभ कर सकती है और किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम अपने जन्म भर पुस्तकों का अध्ययन करें और बहुत बड़े बुद्धिशाली भले ही हो जाय पर अन्त में देखेंगे कि हमारी आत्माकी उन्नति कुछ भी नहीं हुई है। यदि मनुष्य का बौद्धिक विकास उच्च श्रेणी का है तो उस की आत्मिक उन्नति भी उसी श्रेणी की हो यह कोई नियम नहीं है। बल्कि प्रायः प्रति दिन हम यही देखते हैं कि आत्मा की शक्ति का व्यय करके ही बुद्धि की इतनी अधिक उन्नति हुई है।

बुध्दिकी उन्नति करने में तो हमें पुस्तकों से बहुत सहायता प्राप्त होती है पर आत्मा की उन्नति करने में पुस्तकों की सहायता प्रायः नहीं के बराबर ही रहती है। ग्रंथों का अध्ययन करते २ कभी २ हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते हैं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है पर जब हम अपना आत्म निरीक्षण करते हैं तब पता लगता है कि ग्रंथों से सहायता हमारी बुद्धि को मिल रही है, हमारी आत्मा को नहीं यही कारण है कि हम लोग आध्यात्मिक विषयों पर आश्चर्यपूर्ण व्याख्यान तो दे सकते हैं पर जब तदनुसार कार्य करने का अवसर आता है तो हम बिलकुल निकम्मे पाये जाते हैं। जो बाह्य शक्ति हमें

आत्मोन्नति के पथ में आगे बढ़ा सकती है वह शक्ति हमें पुस्तकों द्वारा नहीं मिल सकती इसी कारण ऐसा होता है। आत्मा को जागृत करने के लिये ऐसी शक्ति दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिये। जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है उसे गुरू या आचार्य कहते हैं और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है वह शिष्य या चेला कहाता है। पहिले तो इस शक्ति को प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति उत्पन्न होती है उस आत्मा में उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में मानों डालदेने या पहुँचा देने की योग्यता हो और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिस को वह शक्ति दी जानी है याने जिस आत्मा में वह शक्ति रखनी है वह आत्मा उस शक्ति को लेने के (योग्य) पात्र हो। अर्थात् योग्य सद्गुरू और सत्पात्र शिष्य हों। बीज सजीव हो। और खेत अच्छी तरह से जोता हुआ हो। और जब ये दोनों शर्तें पूर्ण हो जाती हैं तब धर्म की आश्चर्यकारक उन्नति होती है। "धर्म का वक्ता अलौकिक हो और तदनुसार श्रोता भी हो"। और जब दोनों ही अलौकिक या असाधारण हों तभी अत्युत्तम आत्मिक उन्नति संभव है। अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरू हैं और ऐसेही लोग यथार्थ शिष्य हैं। इन की तुलना में अन्य लोग तो केवल धर्म की खिलवाड़ करते हैं। वे लोग तो केवल

थोड़ा सा बौद्धिक प्रयास करते हुए और कुछ कुतूहल पूर्ण शंकाओं का समाधान करते हुए धर्म के क्षेत्र की बाहिरी सीमापर ही खड़े रहने वाले हुआ करते हैं। उस में कुछ लाभ तो है। समय पाकर सब कुछ आपहुँचता है प्रकृति का यह रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलना ही चाहिये। ज्योंही आत्मा को धर्म की आकांक्षा होती है त्योंही धार्मिक शक्ति का देने वाला आना ही चाहिये। "खोज करनेवाले पतित की खोज करने वाले उद्धारक से भेंट हो ही जाती है।" जब ग्रहण करने वाली आत्मा की आकर्षक शक्ति पूर्ण और पक्क हो जाती है उस समय उस आकर्षण को उपयोग में लानेवाली शक्ति आनी ही चाहिये।

पर मार्ग में बड़ी बाधाएँ भी हैं। इस बातकी आशंका रहती है कि ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ धार्मिक पिपासा समझने लगता है। कई बार हमारे जीवन में ऐसी घटनाएँ पाई जाती हैं कि जिस पर हमारा बहुत प्रेम है वह मनुष्य मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें क्षण भर के लिये धक्का पहुँचता है। हम सोचने लगते हैं कि यह संसार हमारी अंगुलियों में से खिसका जा रहा है (क्षणभंगुर है)। उस समय हम संसार से किसी उच्चतर वस्तु की इच्छा करने लग जाते

हैं। उस समय हमें धार्मिक होने की जरूरत मालूम पड़ने लगती है। कुछ दिनों के बाद वह तरंग (या उमंग) निकल जाता है और हम जहां के तहां पड़े रह जाते हैं। हमें अनेकों बार इन आवेशों में धर्मकी सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशों में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा तब तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जागृत नहीं होगी और तब तक हमें "शक्तिदाता" (गुरु) प्राप्त नहीं हो सकता।

अतः हम जब यह शिकायत करें कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिये इतने व्याकुल हैं उस समय हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि हम आत्म निरीक्षण करें और बारीकी से पता लगावें कि यथार्थ में हमें उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है क्या? अनेकों बार तो यही दिखेगा कि हम ही उसके योग्य नहीं हैं; हमें अभी धर्म की आवश्यकता ही नहीं है हममें अभी यथार्थ आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

"शक्तिदाता" (गुरू) के लिये तो और भी अधिक कठिनाइयां होती हैं। ऐसे अनेकों होते हैं जो स्वयं तो अज्ञान में डूबे हुए रहते हैं पर अपने अन्तःकरण में अहंकार भरे रहने के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते हैं।

इतना ही नहीं वे दूसरों का भार अपने कंधे पर उठाना चाहते हैं और जैसे अंधे को अंधा राह दिखावे उस तरह दोनों ही गड्ढे में जा गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरू होना चाहता है। प्रत्येक भिखारी लक्ष मुद्रा का दान करना चाहता है। इस तरह ऐसे भिखारी जैसे हंसी के योग्य होते हैं उसी प्रकार ये गुरू भी उपहास के पात्र हैं। तब गुरु की पहिचान हमें कैसे हो? प्रथम तो सूर्य को दिखाने के लिये मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूरज को देखने के लिये हम मोमबत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदय होने का ज्ञान हमें स्वाभावतः ही हो जाया करता है। उसी प्रकार जब हमें सहायता देने के लिये किसी जगद्गुरु का आगमन होता है तब आत्माको अपने स्वभावसे ही ऐसा ज्ञान होने लगता है कि उसे सत्य का पता लग गया।

सत्य स्वयं सिद्ध होता है उसे सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं हुआ करती। सत्य तो स्वयं प्रकाशवान् होता है। वह हमारी प्रकृति के अन्तरतम गुहाओं तक को भेद लेता है और सारी सृष्टि चिल्ला उठती है कि "यह सत्य है।" अति महान् आचार्य ऐसे होते हैं। पर हम तो इन की अपेक्षा छोटे

आचार्यों से भी सहायता पा सकते हैं और जिन के पास से हम दीक्षा लेना चाहते हैं या जिन्हें हम गुरू बनाना चाहते हैं उन के विषय में ठीक या उचित राय कायम कर सकने के लिये पर्याप्त अन्तःशक्ति हम में सदा नहीं होती इस कारण कुछ कसौटी की जरूरत है। शिष्य में कुछ लक्षणों का रहना आवश्यक है उसी तरह गुरू में भी कुछ लक्षण चाहिये। पवित्रता यथार्थ ज्ञान पिपासा और उद्योग शीलता ये लक्षण शिष्य में अवश्य हों। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सब से बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी जरूरत इसबात की है कि शिष्य को ज्ञान प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है कि चाहता कौन है? हमें जो चाहिये सो मिलता है यही पुराना नियम है। जो खोजे सो पावे। धर्म की आकांक्षा हो यह बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणतः जितना सरल समझते हैं उतना सरल नहीं है। तिसपर हम यह तो भूल ही जाया करते हैं कि कथाएँ सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत युद्ध है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जावे तब तक निरंतर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिनों, कुछ वर्षों या कुछ जन्मों का प्रश्न नहीं है इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जाँय

तोभी हमें इसके लिये तैयार रहना चाहिये। संभव है हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त ही विजय मिल जावे या संभव है सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो; पर हमें उसके लिये तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस दृढ़ धारणा के साथ अग्रसर होता उसकी सफलता अवश्यंभावी है।

गुरू में पहिले तो हमें यह देखना चाहिये कि वे शास्त्रों के मर्म को जानते हों। सारा संसार बाइबिल, वेद कुरान और इन सब धर्म शास्त्रों को पढ़ा करता है पर ये सब तो केवल शब्द समूह, व्याकरण के नियम सूत्रों द्वारा संगठित वाक्यरचना, शब्द रचना और शब्द शास्त्र ही हैं। ये तो धर्म की सूखी नीरस अस्थियां मात्र है। गुरू चाहे किसी ग्रंथ का काल-निर्णय कर ले पर शब्द तो वस्तु ओं की बाहरी आकृति मात्र हैं। जो शब्दों की ही उलझन में अधिक पड़े रहते हैं और अपने मन को शब्दों की शक्ति में ही दौड़ाया करते हैं वे भाव को खो बैठते हैं। इसीलिये गुरू को धर्म-शास्त्रों के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दों का जाल तो बड़े जंगल के समान है जहां मनुष्य का मन रास्ता भूल जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। "शब्द योजना की विभिन्न रीतियां, सुंदर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियां, शास्त्रों के अर्थ

समझाने के अनेकों प्रकार ये सब विद्वानों के आनंदभोग की वस्तुएँ हैं। इन से किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती "। * जो लोग इन सब का प्रयोग करते हैं वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिये ही ऐसा करते हैं जिससे संसार उन की स्तुति करे और यह जाने कि ये विद्वान् हैं। तुम देखो गे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये। उन लोगों ने शब्दों की खींचा तानी का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्हों ने यह नहीं कहा कि इस शब्द का अर्थ ऐसा है और इस शद्ब और इस शब्द के बीच इस तरह का सम्बंध है। संसार में जितने महान आचार्य हुए हैं उनका चरित्र अध्ययन करो। किसीभी आचार्यने इस मार्ग का अवलम्बन नहीं किया। तिस पर भी इन्हीं आचार्योंने यथार्थ शिक्षादी और दूसरे लोगोंने जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था उन्होंने-एकही शब्दको ले लिया और उस शब्द की व्युत्पत्ति, उस शब्द का उपयोग प्रथम किन मनुष्योंने किया, वे लोग क्या खाते थे और कैसे सोते थे इसी विषय पर तीन २ जिल्दों की पोथी रच डाली। मेरे गुरू देव

---

* वाग्वैखरी शब्दकरी शास्त्र व्याख्यान कौशलं।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥
विवेक चूड़ामणि—६०।

मुझसे एक कथा कहा करते थे। एक बार कुछ मनुष्य एक आम के बगीचे में गये। उनमें से बहुतेरे तो आम के झाड़ों की पत्तियां गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने, उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहे। उन लोगोंने सब बातों की टिप्पणी भी तैयार करली और वहां इन भिन्न २ विषयों पर अद्भुत बहस भी छिड़ गई। पर उन में से एक मनुष्य जो इन सब से अधिक बुद्धिमान था वह इन सबों से अलग ही रहा और अपना सब समय आम खाने में लगाया। अब बताओ इन सब में ज्यादा होशियार कौन था? अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिये छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में है पर इस धार्मिक क्षेत्र में तो इसकी कोई कीमत नहीं है। ऐसे कामों से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन "पत्ते गिनने वालों" में तुम्हें अच्छा धार्मिक शक्तिसंपन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरी उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म ही है और वह सब से आसान है। इस में "पत्ते गिनने" की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो तो यह जानना आवश्यक नहीं है कि ईसामसीह कहां पैदा हुए थे जरूसेलममें या बेथले हेम में—; उन्हों ने "पर्वत पर का उपदेश" ठीक किस

तारीख को सुनाया था। तुम्हें तो केवल उस " पर्वत पर के उपदेश " के अनुभव करने की जरूरत है। यह उपदेश किस समय दिया गया इस विषय में दो हजार बातें पढ़ने की जरूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के आनंद के लिये है। उन्हें उसे भोगने दो। " तथास्तु " कह दो और आवो " आम खाने " में हम लगे रहें।

दूसरी आवश्यकता है कि गुरू निष्पाप हों। इंग्लिस्तान में मुझ से एक मित्र पूछने लगे-" गुरू के चरित्र की ओर हमें देखना चाहिये या कि उन के उपदेशों का ही विचार करके उन्हें ग्रहण करना चाहिये "! नहीं, ऐसा ठीक नहीं है। यदि कोई मनुष्य मुझे गतिशास्त्र, रसायन शास्त्र या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे कैसा भी हो वह मुझे इन विषयों की शिक्षा दे सकता है क्योंकि इन विषयों के सिखाने के लिये केवल बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता है। केवल बुद्धि वैभव द्वारा इन विषयों की शिक्षा दी जा सकती है क्योंकि इन विषयों में तो-आत्मा की किञ्चित् भी उन्नति हुए विना भी-बुद्धि की महान् शक्ति का होना मनुष्य में संभव है। पर आध्यात्मिक विज्ञान के संबंध में तो आदि से अंत तक कभी भी यह संभव नहीं कि अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का

प्रकाश रहे। ऐसी अवस्था में वह सिखलावेगा ही क्या? वह तो कुछ जानता ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। "पवित्र हृदय वाले ही धन्य हैं क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करें गे"। इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुम इतना ही सीख लो तो भूत काल में जो कुछ इस विषय में कहा गया है और भविष्य काल में जो कुछ कहा जा सकता है उस सब का ज्ञान प्राप्त कर चुको गे। तुम्हें अब और किसी ओर दृष्टिपात करने की जरूरत नहीं क्योंकि तुम्हें उस एक वाक्य में ही सभी आवश्यक वस्तु की प्राप्ति हो चुकी यदि संसार के सभी धर्म शास्त्र नष्ट हो जावें तो अकेले इस वाक्य से ही संसार का उद्धार हो सकता है। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन-उस परे तत्त्व की झांकी-कभी नहीं मिल सकती। इसी लिये धर्म की शिक्षा देने वाले गुरु में पवित्रता का होना परम आवश्यक है। प्रथम हमें यह देख लेना चाहिये कि वे (गुरू) "क्या करते हैं," उनका चरित्र कैसा हैं और तदुपरान्त वे "क्या कहते हैं," उनका उपदेश क्या है सो सुनना चाहिये। बौद्धिक विषयों के आचार्य के पक्षमें यह बात आवश्यक नहीं है। वहां तो उनके चरित्र की अपेक्षा उनके उपदेश से ही हमें अधिक मतलब रहता है। धार्मिक गुरू के विषय में हमें पहिले देख लेना चाहिये कि वे कैसे हैं?

वे पवित्र हैं क्या? और यदि वे पवित्र हैं तभी उनके उपदेश का मूल्य है, तभी उनके उपदेश का असर होगा; क्योंकि गुरू तो शिष्य में "अपनी शक्ति का संचार करने वाला" होता है। यदि स्वयं गुरू में ही वह आध्यात्मिक शक्ति नहीं है तो वह शिष्य में किस चीज का संचार करेगा? गुरू के मन का एक प्रकार का स्फुरण शिष्य के मनमें प्रविष्ट किया जाता है। उपमा द्वारा देखिये। यदि गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गरम हो तब तो वह गर्मी की शक्ति दूसरे पदार्थ में पहुँचा सकेगा अन्यथा नहीं। यहां तो एक के पास से निकालकर दूसरे में शक्ति को डाल देने का प्रश्न है। केवल हमारी बुध्दि की वृत्तियों को उत्तेजित करने की तो बात ही नहीं है। कोई यथार्थ और प्रत्यक्ष वस्तु गुरू के पास से निकल कर शिष्य के पास जाती है। इसी कारण सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि गुरू सच्चा हो।

तीसरी बात है उद्देश्य-देखना चाहिये कि गुरू नाम कमाने, कीर्ति पाने या ऐसी ही किसी अन्य उद्देश्य से तो उपदेश नहीं देते हैं? वे केवल तुम्हारे प्रति प्रेम-शिष्य के प्रति शुध्द प्रेम-के कारण ही उपदेश देते हैं? केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरू से शिष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम के द्वारा इन शक्तियों का संचार नहीं हो सकता। अर्थ प्राप्ति या कीर्ति लाभ सरीखे किसी अन्य उद्देश्य से उपदेश देने पर

संचारक माध्यम का नाश हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिये। जिसने ईश्वर को जान लिया है वही गुरू हो सकता है। जब तुम यह देख लिये कि गुरू में ये आवश्यक बातें वर्तमान हैं तो फिर तुम्हें कोई डर नहीं। और यदि ये बातें गुरू में नहीं हैं तो उनसे उपदेश लेने में कोई भलाई नहीं। यदि वें सद्भाव का संचार नहीं कर सकते तो कभी उनके दुर्भाव के ही संचार होने का डर है। इसकी सावधानी रखनी चाहिये। अतः यह स्वयंसिद्ध है कि हम जिससे तिससे उपदेश नहीं ले सकते। नदी नाले उपदेश करते हैं, पत्थर उपदेश करते हैं,* यह काव्यालंकार की दृष्टि से ठीक हो पर जिसके भीतर सत्य नहीं है वह सत्यता का उपदेश अणुमात्र भी नहीं दे सकता। नदी नालों से उपदेश किस को मिलता है? उसी मानव आत्मा को जिसका जीवन कमल सच्चे गुरू के पास से आने वाले प्रकाश द्वारा पहिले ही विकसित हो चुका है। जब अन्तःकरण खुल चुका है तो उसे नालों से या पत्थरों से

---

* And this our life exempt from public haunt finds tongues in trees, books in the running brooks, Sermons in stones and good in everything.

—Shakespeare, As you like it II. i.

और अन्य वस्तुओं से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है। तभी उसे इन सब चीजों से धार्मिक शिक्षा मिल सकती है पर जो हृदय खुला नहीं है बंद है उसे नाले और लुढ़कने वाले पत्थर जैसे होते हैं वैसे ही दिखेंगे और कुछ नहीं। अंधा आदमी चाहे अजायब घर को चला जावे पर उस को वहां जाने से कोई लाभ नहीं। पहिले तो उस की आंखें खुलनी चाहिये तब उस के पश्चात् ही वह कुछ सीख सकेगा। गुरू ही धर्म की आंखों का खोलने वाला-दिव्य दृष्टि देने वाला-है। अतः गुरू के साथ हमारा सम्बंध पूर्वज और वंशज का-पिता-पुत्र-का होता है। गुरू धार्मिक पूर्वज ( धर्म पिता ) है और चेला उसका धार्मिक वंशज [ धर्म पुत्र ] है। स्वाधीनता और स्वतंत्रता की बातें चाहे जितनी अच्छी लगें पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहां गुरू और शिष्य में ऐसा सम्बंध हो वहीं आध्यात्मिक महान् आत्माओं कि वृद्धि होती है। पर जिन लोगों ने ऐसे सम्बंध को तोड़ दिया है उनके लिये धर्म तो केवल एक दिलबहलावकी वस्तु है। उन सब राष्ट्रों और धर्माव-लम्बियों में जहां गुरू और शिष्य में यह सम्बंध विद्यमान नहीं है वहां आध्यात्मिकता प्रायः अज्ञातवस्तु कही जा सकती है। गुरू शिष्य के बीच उक्त भाव के बिना

आध्यात्मिकता कदापि नहीं आसकती वहां प्रथम तो कोई देनेवाला-संचार करने वाला ही न रहा और दूसरे, कोई ग्रहण करनेवाला या जिस के भीतर संचार किया जावे ऐसा भी कोई न रहा क्योंकि वे तो सब प्रकार एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। वे सीखेंगे किससे? यदि वे सीखने आते हैं तो विद्या खरीदने के लिये आते हैं। हमें एक रुपये का धर्म दो। हम क्या उस के लिये एक रुपया खर्च नहीं कर सकते? इस प्रकार धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरू के देने से जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है उस से उच्चतर पवित्र वस्तु और कुछ नहीं हुआ करती। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है तो वह उसे अपने आप ही प्राप्त हुआ होता है। यह ज्ञान पुस्त कों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। तुम अपना शिर दुनियां के चारों कोनों में, हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत या गोवी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर पटको पर विना गुरू मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरू की खोज करो, वालकवत् उन की सेवा करो, उनका प्रसाद (प्रभाव) ग्रहण करने को अपना हृदय खोल रक्खो, उन में परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करो। हमारा ध्यान गुरू की ओर उन्हें ईश्वर का सर्व श्रेष्ठ स्वरूप समझकर वना रहे और जैसे ही उन में

हमारी यह ध्यान शक्ति एकाग्र होगी त्योंही गुरू के मानव रूप का चित्र विलीन हो जावेगा मानव शरीर का लोप हो जावेगा और यथार्थ ईश्वर ही वहां शेष रह जावेगा। सत्य की ओर जो इस भक्ति भाव से और प्रेम से अग्रसर होते हैं उन के प्रति सत्य के भगवान् ये परम अद्‌भुत शब्द बोलते हैं-" अपने पैरों से जूते अलग कर दो क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो वह स्थान पवित्र है"। जिस स्थान में उस ( भगवान् ) का नाम लिया जाता है वह स्थान पवित्र है तब जो मनुष्य उस का नाम लेता है वह कितना अधिक पवित्र होगा। और जिस मनुष्य के पास से अध्यात्मिक सत्यताओं की प्राप्ति होती है उस के निकट हमें कितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है। इसी भाव के साथ हमें शिक्षा ग्रहण करना है। इस में कोई संदेह नहीं कि ऐसे गुरू इस संसार में कम मिलते हैं पर सृष्टि कभी भी उनसे एक दम ( बिलकुल ) शून्य भी नहीं रहती जिस क्षण संसार ऐसे गुरूओं से रहित हो जावेगा उसी क्षण इस संसार का अन्त हो जावेगा। यह संसार घोर नरक बन जावेगा और झड़ जावेगा। ये गुरूही मानव जीवन के सुंदर पुष्प हैं और संसार को चला रहे हैं। उन्हीं की शक्ति ने समाज के बंधनों को सुरक्षित रखा है।

इनसे परे और भी एक श्रेणी के आचार्य हैं जो

संसार के ईसामसीह ( या पैगम्बर ) के समान हैं। वे सब "गुरूओं के गुरू" होते हैं-"स्वयं भगवान्" मनुष्य के रूप में आते हैं। वे बहुत श्रेष्ठ होते हैं और अपने स्पर्श मात्र से या अपनी इच्छा मात्र से दूसरों के भीतर धार्मिकता या पवित्रता का संचार कर देते हैं। अत्यधम और अति हीन चरित्र वाले मनुष्य को भी क्षणभर में सच्चरित्र साधु बना देते हैं। वे किस तरह ऐसे काम किया करते हैं इस विषय में क्या पढ़ा नहीं करते? मैं इन गुरूओं के सम्बध में नहीं कह रहा था। ये तो सब गुरूओं के गुरू हैं। ये भगवान् के अवतार हैं इन्हीं रूपों में भगवान् ने स्वयं अपने को मनुष्यों के लिये प्रगट किया है। हम भगवान् का दर्शन इनके सिवाय अन्य था नहीं कर सकते। हम इनकी पूजा किये विना रह नहीं सकते और ये ही एसी विभूतियां हैं जिनकी पूजा हमें अवश्य करना चाहिये।

भगवान् के इन अवतारों के सिवाय भगवान् का "दर्शन" किसी मनुष्य ने नहीं किया है। हम ईश्वर को देख नहीं सकते। यदि हम ईश्वर को देखने का प्रयत्न करते हैं तो हम ईश्वर की एक विकृत और भयानक आकृति वना डालते हैं। एक हिंदुस्थानी क़िस्सा है कि एक अज्ञानी मनुष्य से भगवान्-शिव

की धातु की मूर्ति बनाने के लिये कहा गया। तब उसने कई दिनों तक खटपट करने के बाद एक वानर की प्रतिमा बनाली। इसी प्रकार जब कभी हम भगवान की मूर्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं तब हम उसका एक विकृत आकार ही बना पाते हैं क्योंकि जब तक हम स्वयं मनुष्य हैं तब तक हम भगवान् को मनुष्य से बढ़कर और कोई वस्तु समझते ही नहीं। एक समय ऐसा अवश्य आवेगा जब कि हम अपनी मानव प्रकृति को पार करके आगे बढ जावेंगे और उस समय हम ईश्वर को जैसा वह है वैसा ही जान सकेंगे। पर जब तक हम मनुष्य हैं तब तक तो हमें मनुष्यरूप में ही ईश्वर की आराधना-ईश्वर की पूजा-करनी होगी। बातें चाहे जैसी बोलो प्रयत्न चाहे जैसा करो, तुम परमात्मा को मनुष्य के सिवाय अन्य रूप में नहीं देख सकते। हम बुद्धिमत्ता के बड़े २ व्याख्यान दे डालें, बड़े तर्कशास्त्री बन जाँय, ईश्वर संबंधी कथाओं को निरर्थक गल्प सिद्ध कर दें पर ज़रा थोड़ी साधारण बुद्धि से व्यवहारिक विचार तो कीजिये। इस असाधारण बुध्दि के पीछे 'क्या' है? वह केवल शून्य, कुछ नहीं, केवल बुद्बुद के समान निःसार वस्तु है! इस के बाद जब कभी तुम किसी मनुष्य को ईश्वर पूजा के विरुध्द बड़े २ बुद्धिमानी के व्याख्यान फटकारते सुनो तो उसे पकड़कर यह पूछो कि ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी

कल्पना क्या है ? "सर्वशक्तिमत्ता" "सर्वव्यापिता" "सर्वव्यापी प्रेम" इत्यादि शब्दोच्चार के सिवाय उनका वह क्या अर्थ समझता है ? वह कुछ नहीं जानता वह इन शब्दों के भावों की कोई कल्पना आपके सामने नहीं ला सकता। एक रास्ता चलनेवाले अपढ़ निरक्षर मनुष्य की अपेक्षा वह किसी तरह श्रेष्ठ नहीं है। वह राहगीर मनुष्य स्वयं शान्त है और दुनियां की शांतिको भंग नहीं करता। उसे कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हैं अतः यह ( राहगीर मनुष्य और वह बुद्धिमान् व्याख्यान दाता ) दोनों ही एक ही भूमिका पर अवस्थित हैं, दोनों एक ही श्रेणी के हैं। प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही धर्म है। मौखिक विवाद और प्रत्यक्ष अनुभव में महान् अंतर है यह जानना चाहिये अपनी आत्मा में जो अनुभव हो वह प्रत्यक्ष अनुभव है। अब सर्वव्यापी भगवान् का क्या अर्थ है ? मनुष्य को आत्मा की कोई कल्पना नहीं है। अपने नेत्रों के सामने जो आकार देखता है उन्हीं आकारों के साथ ही उसे आत्मा की कल्पना करनी पड़ती है। नीले आकाश, विस्तृत क्षेत्र समूह, समुद्र या ऐसीही किसी महान् वस्तु की भावना उसे करनी पड़ती है। नहीं तो वह और किस तरह ईश्वर का विचार करेगा ? और तुम क्या कर रहे हो ? "सर्व व्यापिता" की बात कर रहे हो और समुद्र का चिन्तन कर रहे हो ? क्या समुद्र ईश्वर है ? अतः संसार

के इस व्यर्थ विवाद को दूर करो। हमें साधारण बुद्धि की आवश्यकता है साधारण बुद्धि बड़ी दुर्लभ वस्तु है। संसार में बातों की भरमार है। हम अपनी वर्तमान् प्रकृति के अनुसार मर्यादित हैं और हम भगवान् को मनुष्य के ही रूप में देखने के लिये बाध्य हैं। यदि भैंसे ईश्वर की पूजा कर सकते तो वे ईश्वर को एक बड़ा भैंसा ही समझते। यदि मछली ईश्वर की पूजा करना चाहती है तो वह ईश्वर को एक बड़ी मछली के आकार का समझेगी और यदि मनुष्य ईश्वर पूजा करना चाहता है तो उसे ईश्वर को मनुष्य ही मानना पड़ेगा। और ये सब कल्पनाएँ नहीं हैं। आप और हम, भैंसा और मछली हर एक भिन्न २ पात्रोंके स्वरूप हैं। ये सब पात्र अपने भीतरी आकार के अनुसार ही पानी भरने के लिये समुद्र में जाते हैं। मनुष्य में जो कुछ है उसके अनुसार मनुष्य में, भैंसा के अनुसार भैंसा में, मछली के अनुसार मछली में पानी भरता है। इन पात्रों में पानी के सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। उसी तरह उन सभी में जो ईश्वर है उसके विषय में समझो। जब मनुष्य ईश्वर को देखते हैं तो वे उसे मनुष्य के रूप में देखते हैं। उसी प्रकार अपनी २ कल्पना के अनुसार अन्य प्राणी भी ईश्वर को अपने २ रूप में देखते हैं। परमेश्वर को तुम केवल इसी तरह देख सकते हो। मनुष्य के ही रूप में तुम उसकी

उपासना कर सकते हो क्योंकि इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। दो वर्ग के मनुष्य ऐसे हैं जो ईश्वर की उपासना मनुष्य के रूप में नहीं करते–एक मानव रूप –धारी पशु जिनका कोई धर्म ही नहीं होता और दूसरे "परमहंस" ( पहुँचे हुए योगी ) जो मनुष्यता के परे पहुँच गये हैं, जो मन और शरीर से अलग हो चुके हैं और प्रकृति की मर्यादा के उस पार चले गये हैं। समस्त प्रकृति उनकी आत्मा वन गई है। उनके न मन है न शरीर। वे ईशू या बुद्ध के समान ईश्वर की उपासना ईश्वर के ही रूप में कर सकते हैं। वे ईश्वर की पूजा मनुष्य के रूप में नहीं करते थे। दूसरी छोर पर मानव पशु हैं ये दोनों छोर वाले कैसे एक समान दिखते हैं। वैसे ही अत्यंत अज्ञानी और अत्युच्च ज्ञानी में भी समानता है–ये दोनों ही किसी की उपासना नहीं करते। अत्यंत अज्ञानी मनुष्य को पर्याप्त विकास नहीं होने के कारण ईश्वर की उपासना की जरूरत ही नहीं मालूम पड़ती इस लिये वह ईश्वर की पूजा नहीं करता। और जो मनुष्य उच्च तम ज्ञान की प्राप्ति कर चुके हैं वे भी ईश्वर की पूजा नहीं करते क्यों कि वे तो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं और उनका ईश्वर के साथ तदाकार हो चुका है। ईश्वर कभी ईश्वर की पूजा नहीं करता इन दो सीमान्त अवस्थाओं का मध्यवर्ती कोई मनुष्य यदि यह कहे कि मैं मनुष्य रूप

में ईश्वर की पूजा नहीं करता तो उस से तुम सावधान रहो। वह अपनी जबावदारी बिना जाने समझे बोलने वाला है। उसका धर्म उथले विचार वालों के लिये है। उस का केवल बौध्दिक व्यर्थ वाद है।

अतः ईश्वर की मनुष्य के रूप में उपासना करना नितान्त आवश्यक है। और जिन जातियों में ऐसे उपास्य "मानव-ईश्वर" हैं वे धन्य हैं। क्रिस्तानों में क्राइस्ट के रूप में ऐसे मानव रूपधारी ईश्वर हैं। अतः उन्हें क्राइस्ट के प्रति दृढ़ आसक्ति रखनी चाहिये। क्राइस्ट को उन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिये। मनुष्य में ईश्वर का दर्शन करना यही ईश्वर दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर संबंधी हमारे समस्त विचार वहीं एकाग्र हो सकते हैं। क्रिस्तानों में महान् कमी इस बात की है कि वे क्राइस्ट के सिवाय ईश्वर के अन्य अवतारों के प्रति श्रध्दा नहीं रखते। क्राइस्ट ईश्वर के अवतार थे उसी तरह बुध्द भी ईश्वर के अवतार थे और अन्य सैकड़ों अवतार होवेंगे। ईश्वर को कहीं पर सीमाबध्द मत करो। क्रिस्तानों को चाहिये कि ईश्वर की कुछ भक्ति करना वे उचित समझें वह भक्ति वे क्राइस्ट के प्रति करें यही एक भक्ति उनके लिये संभव है। ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि में सर्व व्यापी है। उनके मानव स्वरूप की ही हम उपासना कर सकते हैं। "क्राइस्ट के

नामपर " क्रिस्तान लोगों का प्रार्थना करना बहुत अच्छा है। बेहत्तर हो यदि वे ईश्वर की प्रार्थना करना छोड़ केवल क्राइस्ट से ही प्रार्थना करें। ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है। और मानव जाति का उपकार करने के लिये ईश्वर मनुष्य बनकर आता है। जब २ धर्म का न्हास और अधर्म की वृद्धि होती है तब २ मैं मानव जाति का उद्धार करने आता हूं " ऐसा श्रीकृष्ण का वाक्य है * " " अज्ञानी जन यह न जान कर कि मैं सृष्टि का सर्व शक्तिमान् और सर्वव्यापी ईश्वर यह मानव रूप धारण किया हूं मेरी अवहेलना करते हैं और आश्चर्य करते हैं कि यह कैसे संभव है। + " उनका मन आसुरी अज्ञान से आच्छादित है इसी लिये वे उस मानवरूप ईश्वर में सृष्टि के स्वामी ईश्वर का दर्शन नहीं कर पाते। ईश्वर के महान् अवतार पूज्यनीय हैं। यही नहीं, पूजा तो केवल इन्हीं की हो सकती है। और इन के जन्म के दिनों और संसार को छोड़ कर जाने के

---

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
गीता—( ४—७ )

\+ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनु माश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
—गीता ( ९—११ )

दिनों को हमें विशेष पूज्यनीय मानना चाहिये। क्राइस्ट की पूजा करने में मैं उन की पूजा ठीक उसी तरह करूंगा जैसा कि वे ईश्वर की पूजा कराना चाहते थे। उनके जन्म के दिन मैं दावत की मौज उड़ाने के बदले प्रार्थना और उपासना द्वारा उनकी पूजा करूंगा। जब हम इन अवतारों का, महान् विभूतियों का चिंतन करते हैं तब ये हमारी आत्माओं के भीतर प्रगट होते हैं और हमें अपने समान बना देते हैं। हमारी संपूर्ण प्रकृति बदल जाती है और उनके समान हो जाती है। पर तुम क्राइस्ट और बुध्द को वायु में उड़नेवाले भूत प्रेतों और उसी तरह अन्य अज्ञान कल्पित जन्तुओं के साथ एक मत समझ लेना। शान्तम् पापम्। क्राइस्ट भूतदल के साथ नाचने आता है! मैंने यह ढोंग इस देशमें देखा है। परमात्मा के ये अवतार इस तरह नहीं आया करते। किसी भी अवतार के स्पर्श मात्र से मनुष्य में कई प्रकार का प्रभाव पड़ता है। जब क्राइस्ट का स्पर्श होगा तो मनुष्य की समग्र आत्मा परिवर्तित हो जावेगी और वह मनुष्य बदलकर क्राइस्ट जैसाही बन जावेगा। उसका सारा जीवन आध्यात्मिक बन जावेगा और उसके शरीर के रोम २ से आध्यात्मिक शक्ति निकलने लगेगी। क्राइस्ट की जो शक्तियां उन के चमत्कारों में और आरोग्यता प्रदानों में दिख पड़ती है वे यथार्थ में क्या थीं? ये तो तुच्छ गंवारी

असंस्कृत (त्याज्य) चीजें थीं। जिसे किये बिना वे नहीं रह सकते थे क्योंकि वे असंस्कृत प्राणियों के बीच रहते थे। ये चमत्कार पूर्ण कृत्य कहां किये गये? यहूदी लोगों के बीच। और यहूदी लोग उन को (रखना) नहीं चाहते थे। और ऐसे चमत्कार कहां नहीं किये गये? यूरोप में। ये चमत्कार तो यहूदियों के पास गये जिन्हों ने क्राइस्ट का परित्याग किया और उन के "पर्वत पर का उपदेश" यूरोप को गया जिसने क्राइस्ट को अपनाया। मानव आत्माने जो सत्य था उसका ग्रहण किया और जो मिथ्या था उसका त्याग किया। क्राइस्ट की महान शक्ति उनके चमत्कारों में, उनके आरोग्य देने में, नहीं है। यह तो कोई अज्ञानी भी कर सकता। अज्ञानी दूसरों को आराम कर सकते हैं। असुर भी दूसरों के रोग को भगा सकते हैं। मैंने भयानक आसुरी मनुष्यों को अद्भुत चमत्कार करते देखा है। ऐसे लोग मिट्टी से फल बना डालते हैं। मैंने मूर्खोंको और आसुरी मनुष्यों को भूत वर्तमान् और भविष्य की बातें बताते देखा है मैंने मूर्खों को एक दृष्टि पात द्वारा इच्छा शक्ति से बड़े भयानक रोगों को आराम करते देखा है। सचमुचमें ये शक्तियां तो हैं पर बहुधा ये शक्तियां आसुरी शक्तियां हुआ करती हैं। इन के सिवाय एक दूसरी शक्ति है जो क्राइस्ट की आध्यात्मिक शक्ति है—वह जीवित रहेगी और सदा जीवित

रहती आई है-वह है सर्व शक्तिशाली सबको अपनानेवाला प्रेम। वैसेही उन्हों ने जो सत्य के शब्दों का उपदेश दिया वे शब्द भी सदाजीवित रहेंगे। उनका अपनी एक नज़र से मनुष्योंको नीरोग करना विस्मृत हो सकता है पर "जिनका अंतःकरण पवित्र है वे धन्य हैं" यह उनकी उक्ति कभी नहीं भुलाई जा सकती। यह उक्ति आज भी जीवित है यह शब्द समूह शक्ति का महान् अक्षय्य भाण्डार है जो तब तक खाली नहीं हो सकता जब तक मनुष्य का मन कायम रहेगा। जब तक ईश्वर के नाम को भूलेंगे नहीं तब तक ये शब्द प्रचलित ही रहेंगे और उनका कभी अन्त न होगा। शक्ति की इन्हीं बातों को ईशूने सिखाया और येही शक्तियां उनके पास थीं। उनकी शक्ति पवित्रता की शक्ति थी और वह थी यथार्थ शक्ति। अतः हमें क्राइस्ट की उपासना-उनसे प्रार्थना-करते समय सदा स्मरण रखना चाहिये कि हम किस वस्तु की इच्छा कर रहे हैं। चमत्कार दिखलाने की उन मूर्खता-पूर्ण वस्तुओं को हम नहीं चाहते वरन् आत्मा की उन अद्भुत शक्तियों की हम आकांक्षा करते हैं जो मनुष्य को स्वतन्त्र बना देती हैं, उसे समग्र प्रकृतिपर अधिकार प्राप्त करा देती हैं और उसे दासत्त्व की शृंखला से छुड़ा कर ईश्वर का दर्शन करा देती हैं।

## चतुर्थ अध्याय।

# प्रतिमा की आवश्यकता।

भक्ति के दो विभाग हैं। एक वैधी भक्ति-जो विधिमयी या अनुष्ठानात्मक होती है और दूसरी मुख्या भक्ति या पराभक्ति। अत्यंत भिन्न श्रेणी से लगाकर उच्चतम श्रेणी तक उपासना के सभी रूपों का समावेश "भक्ति" शब्द में होता है। दुनियां के सभी देशों में और सभी धर्मों में जितनी भी उपासनाएँ की जाती हैं, उन सब का नियमन प्रेमद्वारा होता है। इन उपासनाओं में बहुत सा भाग तो केवल विधियों का होता है और बहुत सा भाग विधियों का न होने पर भी प्रेम नहीं कहा जा सकता; प्रेम से नीची श्रेणी का होता है। तथापि ये विधियां आवश्यक होती हैं। भक्ति का यह बाहरी भाग आत्मा को उन्नति के मार्ग में सहायता देने के लिये नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि सोचे कि मैं एकदम उच्चतम अवस्था को कूदकर पहुँच जाऊंगा तो यह उस की बड़ी भूल है। यदि बालक यह सोचे कि मैं एक दिन में वृद्ध बन जाऊंगा तो यह उस की भूल है। मैं आशा करता हूं कि आप सदा इस बात पर ध्यान रखेंगे कि

धर्म न तो पुस्तकों में है, न बौद्धिक संमति देनेमें है और न तर्कवाद में ही है। तर्क सिद्धांत, आप्तवाक्य, शास्त्राज्ञा, धार्मिक अनुष्ठान ये सब धर्म के सहायक होते हैं पर असली धर्म तो साक्षात्कार या अपरोक्ष अनुभव ही है। हम सब कहा करते हैं कि "ईश्वर है"। क्या आप ने ईश्वर को देखा है?-यही तो प्रश्न है। आप ने किसी मनुष्य को यह कहते सुना है कि "स्वर्ग में एक ईश्वर है"। आप उससे पूछते हैं कि क्या तुमने ईश्वर को देखा है और यदि वह कहता है कि हां मैंने ईश्वर को देखा है तो आप उसकी हंसी करते हैं और कहते हैं कि यह पागल है बहुतेरे मनुष्यों का धर्म तो किसी सिध्दांत को मानने या एक प्रकार की बौध्दिक संमति देने में ही समाप्त हो जाता है। मैंने अपने जीवन में ऐसे धर्म का उपदेश कभी नहीं किया। मैं इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना बेहत्तर है। हमारी बौध्दिक सम्मति या मतभेद पर धर्म अवलम्बित नहीं रहता। आप कहते हैं कि आत्मा है। क्या आपने आत्मा को देखा है? हम सबमें आत्मा है पर उसे देख नहीं पाते यह कैसी बात है? आपको इस प्रश्नका उत्तर देना होगा और आत्मा को देखने का उपाय निकालना होगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो धर्म की बात करना निरर्थक है। यदि कोई धर्म सच्चा है तो वह धर्म हमें अपने आप

में ही आत्मा ईश्वर और सत्य का दर्शन करा सकने में समर्थ होना चाहिये। यदि आप और हम किसी धार्मिक सूत्र या सिद्धान्त के सम्बंध में सदा लड़ते रहें तो हम कभी भी किसी निर्णयपर नहीं पहुँचेंगे। इसी तरह लोग सदियों से लड़ते आये हैं पर नतीजा क्या हुआ? बुद्धि वहां तक कदापि पहुँच नहीं सकती। हमें बुद्धि के उस पार जाना होगा। धर्म की सवूती तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही होती है। दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण तो यही है कि उसे हम देखते हैं। यदि हम बैठ जाँय और दीवाल के अस्तित्व के संबंध में युग युगांतर तक बहस करें तो कभी भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे। पर यदि आप उसे प्रत्यक्ष देखलेंगे तो उतना ही बस है। यदि संसार के सब मनुष्य आप से कहें कि दीवाल नहीं थी तो आप उनका विश्वास नहीं करेंगे क्योंकि आप जानते हैं कि अपने चक्षुओं का प्रमाण संसार के सूत्रों और सिध्दान्तों से बढ़ कर है।

धार्मिक होने के लिये सर्व प्रथम आपको पुस्तकें फेंक देनी होंगी। पुस्तकें जितनी कम पढ़ो उतनी ही तुम्हारी भलाई है। एक समय में एक ही काम करो। पाश्चात्य देशों में इस जमाने में दिमाग में सभी चीजों की खिचड़ी करने की प्रवृति हुआ करती है। सभी तरह के अपरिपक्व विचार दिमाग में जाकर चक्कर खाते

हैं और कुहराम मचा देते हैं। इन विचारों को दिमाग में ठंडा होने का और निश्चित आकार में जमने का मौका ही नहीं मिलता। बहुधा यह एक प्रकार का रोग हो जाता है पर यह धर्म तो कदापि नहीं है। इस के अलावा कई लोगों को ज्ञान तंतु संबंधी उत्तेजना की जरूरत होती है। उन्हें बताइये कि ऐसे भूत हैं जो अदृश्य रूप में वर्तमान हैं और उनको ताक रहे हैं। या कि उत्तरी ध्रुव या और किसी दूर देश के लोग पंखों के सहारे उड़ते २ या और किसी विचित्र रूप से आ रहे हैं। उन्हें ऐसी २ बातें बताइये जिनको सुनकर उनके हृदय में सनसनी पैदा हो तब वे संतुष्ट होकर अपने घर जावेंगे। पर २४ घंटे बाद पुनः वे नई उत्तेजना के लिये पुनः तयार मिलेंगे। इसे ही कुछ लोग धर्म कहते हैं। यह तो पागलखाने का रास्ता है न कि धर्म का। यदि आप इसी राह में एक शताब्दि चलेंगे तो इस देशको आप एक बड़ा पागलखाना बना डालेंगे। परमात्मा के पास दुर्बल लोग नहीं पहुँच सकते और ये सब उत्तेजक कहानियां श्रोता को दुर्बल बनाती हैं। अतः ऐसी चीजों को अपने पैर की अंगुलियों से भी स्पर्श न करो। इन से मनुष्य सिर्फ कमज़ोर बनते हैं। दिमाग में गड़बड़ी पैदा होती है। मन दुर्बल हो जाता है। आत्मा का नैतिक पतन होता है और नैराश्य पूर्ण संभ्रम (विशृंखला) ही

इस का अंतिम फल होता है। आप इस बात को ध्यान में रखिये कि धर्म न बातों में है, न सिद्धांतों में न पुस्तकों में, पर है वह प्रत्यक्ष अनुभव में। धर्म तो शिक्षा नहीं है, आचरण है। धर्म को सीखना नहीं है धार्मिक "होना" है। "चोरी मत करो" इसे हर कोई जानता है पर इससे क्या? इसे तो यथार्थ में उसी ने जाना जिसने चोरी नहीं की। "दूसरों को हानि मत पहुँचाओ" यह हर किसी को मालूम है पर इस से क्या लाभ? जिन्हों ने दूसरों को हानि नहीं पहुँचाई उन्हीं ने इस वाक्य का अनुभव किया। उन्हीं ने इसे जाना और उस सिद्धान्तपर अपने चरित्र का निर्माण किया। अतः हमें धर्म का अनुभव करना है। और धर्म का यह अनुभव एक लम्बी क्रिया है। जब मनुष्य किसी अति उच्च अद्भुत विषय के संबंध में सुनते हैं तब वे यही समझने लगते हैं कि वे उसे एकदम प्राप्त कर लेंगे। क्षणभर भी वे यह नहीं विचारते कि उस की प्राप्ति के लिये उन्हें उस का रास्ता तय करना पड़ेगा। वे तो वहां एकदम कूदकर पहुँच जाना चाहते हैं। यदि वह स्थान अति उच्चतम है तो भी हम वहां पहुँच जाना चाहते हैं। हम कभी यह सोचने के लिये नहीं रुकते कि हम में उतनी शक्ति है या नहीं। नतीजा यह होता है कि हम कुछ नहीं करते। आप किसी मनुष्य को कांटेदार चम्मच

से उठाकर ऊपर नहीं ढकेल सकते। हम सब को क्रमशः प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। इसी लिये धर्म का पहिला भाग यह वैधी भक्ति-उपासना की यह निचली श्रेणी-है।

उपासना की ये निम्न अवस्थाएँ क्या हैं। इसे बतलाने के पूर्व मैं आप से एक प्रश्न करूंगा। आप सब कहते हैं कि परमेश्वर है और वह सर्वव्यापी व्यक्ति है परन्तु सर्वव्यापित्व के संबंध में आप की क्या कल्पना है। उत्तर देते समय आप केवल अपनी आंखें मूंद लेते हैं। और मुझे बताते हैं कि वह सर्व व्यापी किस तरह का है। अब आप क्या पाते हैं? या तो आप समुद्र का विचार कर रहे हैं या नीले आकाश का या किसी मैदान के विस्तार का या ऐसी ही चीजों का जिन्हें कि आपने अपने जीवन में देखा है। यदि ऐसा ही है तो आप "सर्वव्यापी ईश्वर" इन शब्दोंसे कुछ नहीं समझते। आपके पास उसका कोई अर्थ नहीं। उसी तरह ईश्वर के अन्य गुणोंके संबंध में भी जानिये। साधारणतः सर्व शक्तिमान या सर्व दर्शीके सम्बंध में भी हमारी क्या कल्पना हुआ करती है? कुछ भी नहीं। अनुभव करना ही धर्म है और जब आप ईश्वर के विषय में आप की जो कल्पना है उसका अनुभव करने में समर्थ हो जावेंगे तब मैं आपको ईश्वर का उपासक या पुजारी कहूंगा।

तब तक आपको केवल शब्द के हिज्जे ही मालूम हैं। इससे अधिक और कुछ आप नहीं जानते। और उस अवस्था में पहुँचने के लिये जब कि हम ईश्वर का अनुभव कर सकें हमें साकार वस्तु के मार्ग से पार करना होगा—ठीक उसी तरह जैसे कि बच्चे प्रथम साकार वस्तुओं का अभ्यास करके तदुपरान्त क्रमशः भाव वाचक की ओर आते हैं। यदि आप किसी बालक को दो पंचे दस बताते हैं तो वह नहीं समझता। पर यदि आप उसे दस चीजें दे दीजिये और दो दो चीजें पांच बार उठाने से कैसे दस हुए यह दिखाइये तब वह उसे समझ लेगा। यह धीरे २ चलने और देरी का तरीका है। यहां हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, संसार की सारी पुस्तकों का अभ्यास हम ने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं। अनुभव करने की इस शक्ति से धर्म बनता है। सिद्धान्त सूत्र तत्वज्ञान या नैतिक वचनों का ज्ञान जो आप के दिमाग में ठूंस ठूंस कर भरा है उनसे कुछ अधिक मतलब नहीं है। आप क्या हैं और आप ने क्या अनुभव किया है ये ही मतलब की बातें हैं। हम ने सूत्रों और सिद्धान्तों का तो अध्ययन किया है पर अपने जीवन में अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया है। अब हमें स्थूल या साकार रूप में विधि, मंत्र, स्तोत्र,

संस्कार और अनुष्ठानों द्वारा प्रारंभ करना होगा। स्थूल विधियां हजारों होंगी। एक ही विधि प्रत्येक के लिये होना आवश्यक नहीं है। किसी को मूर्ति से सहायता होती है और किसी को नहीं। किसी को बाहरी मूर्ति की आवश्यकता होती है और किसी को अपने मन में ही मूर्ति की कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती है। मन में ही मूर्ति की कल्पना कर लेने वाला कहता है "मैं उच्च श्रेणी का हूं क्योंकि मानस पूजा ठीक है; बाहरी मूर्ति की पूजा करना बुतपरस्ती है, निंदनीय है; मैं उसका विरोध करूंगा।" जब मनुष्य गिर्जाघर या मंदिर के रूप में मूर्ति बनाता है तो वह उसे पवित्र समझता है। पर यदि वह मूर्ति मनुष्य की आकृति हुई तो उसे वह बिलकुल घृणित समझता है। इस तरह मन अपना यह स्थूल अभ्यास भिन्न २ रूपों द्वारा करेगा और क्रम २ से हमें सूक्ष्म का ज्ञान प्राप्त होगा, सूक्ष्म का अनुभव होगा। फिर भी एक ही विधि सब के लिये ठीक नहीं हो सकती। एक विधि मेरे लिये उपयुक्त हो, दूसरी किसी और को उपयुक्त हो, इसी तरह जानिये। सभी मार्ग यद्यपि उसी ध्येय को पहुँचाते हैं तथापि वे सभी मार्ग सब के लायक न हों। साधारणतः यहां पर हम एक गलती और करते हैं। मेरा आदर्श आप के लायक नहीं है तो मैं उसे जबरदस्ती आप के गले क्यों मढ़ूं? गिर्जाघर बनाने का

मेरा नमूना या स्तोत्र पाठ करने की मेरी विधि यदि आप को ठीक नहीं जँचती तो मैं उस संबंध में आप पर जवरदस्ती क्यों करूं? आप दुनियां में जाइये और प्रत्येक मूर्ख यही कहेगा कि मेरी ही विधि ठीक विधि है और अन्य सब विधियां आसुरी हैं। संसार में मेरे सिवाय ईश्वर का कोई और कृपापात्र पैदा ही नहीं हुआ। सभी विधियां अच्छी और उपयोगी हैं और जैसे भिन्न २ प्रकार की मनुष्य प्रकृतियां हैं ठीक उसी तरह भिन्न २ प्रकार के धर्म भी हैं। और जितने ही अधिक प्रकार के धर्म हों उतना ही संसार के लिये वेहत्तर है। यदि संसार में वीस प्रकार के धर्म हैं तो वहुत अच्छा है और यदि ४०० प्रकार के धम होगये तो और भी वेहत्तर है क्योंकि उस अवस्था में पसन्द करने का अवसर और अधिक रहेगा। सो हमें तो धर्म की और धार्मिक आदर्शों की संख्या वढ़ने पर उलटे प्रसन्न होना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने से प्रत्येक मनुष्यके लिये धर्म पालन का अवसर मिलेगा और मानव जातिको और अधिक सहायता मिलेगी। ईश्वर करे धर्मोंकी संख्या यहांतक वढ़े कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये-हर किसी के धर्म से अलग-एक धर्म मिल जावे। भक्ति योग की यही कल्पना है।

अन्तिम भाव यही है कि मेरा धर्म तुह्मारा नहीं हो सकता और तुह्मारा धर्म मेरा नहीं हो सकता। यद्यपि

ध्येय और उद्देश्य एक ही है तथापि हर एकका-
-अपनी २ मानसिक प्रवृति के अनुसार-मार्ग भिन्न
है। और यद्यपि ये मार्ग भिन्न २ हैं तौभी सभी मार्ग
ठीक होने ही चाहिये क्योंकि सभी मार्ग उसी स्थानको
पहुँचाते हैं। एक ही सत्य हो और बाकी सब गलत हों
यह संभव नहीं। अपना मार्ग पसंद कर लेना ही "इष्ट"
या चुना हुआ मार्ग भक्ति की भाषा में कहलाता है।

तदुपरान्त 'शद्बों' के विषय में सुनिये। आप सब
लोगों ने शद्बों की शक्ति के सम्बंध में सुना है। उनकी
कैसी अभ्दुत शक्ति होती है। धर्मग्रंथ बाईबिल, कोरान,
वेद-शद्बों की शक्ति से भरे पड़े हैं। कुछ शब्दों का मानव
जाति पर अभ्दुत प्रभाव है। फिर दूसरे आकार और
चिन्ह भी हैं। चिन्हों का भी मनुष्य के मन पर बहुत
असर पड़ता है। धर्म के बड़े २ चिन्ह अनाप सनाप नहीं
बनाये गये हैं। हम देखते हैं कि चिन्ह विचारों के प्रगट
करने के स्वाभाविक तरीके हैं। हम चिन्हों द्वारा ही
विचार करते हैं। हमारे सब शद्ब उन के पीछे रहने वाले
विचारों के चिन्ह मात्र हैं। भिन्न २ जाति के लोग
भिन्न २ चिन्हों का उपयोग-ऐसा करने का कारण बिना
जाने ही-करने लगे हैं। विचार या भाव भीतर रहते हैं
और इन चिन्हों का इन भावों और विचारों से संबंध है।

और जिस तरह भीतरी भाव इन चिन्हों को बाहर प्रगट करता है उसी तरह ये चिन्ह भी भीतर उन विचारों या भावों को पैदा करते हैं। इस लिये भक्ति के इस अंश में इन चिन्हों शब्दों और प्रार्थनाओं के विषय में वर्णन है। प्रत्येक धर्म में प्रार्थनाएँ हैं पर एक बात ध्यान में रखना होगा कि आरोग्य या धन के लिये प्रार्थना करना भक्ति नहीं है-यह सब कर्म या पुण्य कार्य है। किसी भौतिक लाभ के लिये प्रार्थना करना निरा कर्म है। उसी तरह स्वर्ग जाने के लिये या अन्य कार्य के लिये प्रार्थना करने को भीजानो। जो ईश्वर से प्रेम करना चाहता है, भक्त होना चाहता है, उसे ऐसी प्रार्थनाएँ छोड़ देनी चाहिये जो ज्योतिर्मय प्रदेश में प्रवेश चाहता है उसे तो खरीदी और बिक्री की इस " दूकानदारी " धर्म की एक गठरी बांध कर अलग धर देनी होगी तत्पश्चात् उस प्रदेश के द्वार में प्रवेश करना चाहिये। ऐसा नहीं है कि जिस वस्तु के लिये प्रार्थना करोगे उसे नहीं पाओगे। तुम प्रत्येक वस्तु पा सकते हो। पर यह तो नीच और गँवार का-भिखारी का धर्म हुआ। " गंगा के किनारे रह कर पानी के लिये छोटा सा कुंआ खोदे यह सचमुच मूर्ख का ही काम है। हीरों की खानि में आकर कांच के गुरियों की या टुकड़ी की तलाश करना मूर्खता ही होगी। "* क्या आश्चर्य!

---

* उषित्वा जान्हवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः।

ईश्वर के पास मांगना-आरोग्य, भोजन या कपड़े का टुकड़ा! जो ईश्वर हीरों की खदान है उस के पास इन सांसारिक कांच के टुकड़ों की मांग! यह शरीर तो कभी मरेगा ही सो इस की आरोग्यता के लिये पुनः २ प्रार्थना करने से क्या लाभ? आरोग्य और धन में है ही क्या? धनी से धनी मनुष्य अपने धन के थोड़े से ही अंश का उपयोग कर सकता है। हम संसार की सभी चीजें प्राप्त नहीं कर सकते। और यदि हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते तो क्या हमें उनकी चिंता करना चाहिये? यह शरीर ही चला जावेगा तो इन वस्तुओं की परवाह कौन करता है? यदि अच्छी चीजें आवें तो भली बात! आने दो! यदि ये चीजें जाती हैं तो भली बात! जाने दो! जब वे आती हैं तो भी उन्हें धन्य है। जब जाती हैं तो भी धन्य है। हम तो ईश्वर का साक्षात्कार करने जारहे हैं। हम उन "सम्राटों के सम्राट" के समक्ष पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम वहां भिखारी के वेश में नहीं पहुँच सकते। यदि हम भिखारी के वेश में बादशाह के दरबार में प्रवेश करना चाहें तो क्या हम प्रवेश पा सकेंगे? कदापि नहीं। हम भगा दिये जावेंगे। हमारे ईश्वर सम्राटों के सम्राट हैं और हम उन के समक्ष भिखारियों के चिथड़ों में प्रवेश नहीं कर सकते। वैसे ही दूकानदारों का भी वहां प्रवेश नहीं है। वहां खरीदी बिक्री से काम नहीं

चलता, जैसा कि बाइबिल में वर्णन है ईशू ने खरीदने और बेंचने वालों को मंदिर से भगा दिया। तिस पर भी कोई ऐसी प्रार्थना करता है "हे ईश्वर! मैं अपनी तुच्छ विनती तुझ तक भेजता हूं, मुझे इसके बदले एक नई पोषाक दे दे; हे ईश्वर! मेरा शिर का दर्द मिटा दे, मैं कल दो घंटे अधिक प्रार्थना करूंगा। अपने मानसिक क्षेत्र में अपने को इस से कुछ ऊपर उठाओ। इस तरह की छोटी २ बातों के लिये प्रार्थना करने की अवस्था से अपनी अवस्था को ऊंची समझो यदि मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को ऐसी चीजों के लिये प्रार्थना करने में लगा दे तो मनुष्य और पशु में अंतर ही कहां रहा? ऐसी समस्त इच्छाओं का और स्वर्ग प्राप्ति की कामना का भी परित्याग करना भक्त का प्रथम कार्य है। स्वर्ग क्या है? स्वर्ग भी यहां के ही इन स्थानों के समान है। थोड़ा कुछ इन से बेहतर होगा। यहां हमें कुछ दुःख और कुछ सुख मिलता है। वहां स्वर्ग में शायद दुःख कुछ कम मिले और सुख कुछ अधिक मिले। यहां की अपेक्षा वहां हमें ज्ञान का प्रकाश कुछ भी अधिक नहीं मिलेगा। यह तो केवल हमारे शुभ कर्मों का फल स्वरूप होगा। ईसाई लोग स्वर्ग को अत्यधिक सुखभोग का स्थान मानते हैं। ऐसा स्वर्ग ईश्वर का स्थान कैसे हो सकता है? या स्वर्ग प्राप्तिसे हमें ईश्वर प्राप्तिका आनन्द

कैसे हो सकता है? प्रश्न यही है कि इन सब कामनाओं का त्याग कैसे किया जाय? यही कामनाएँ मनुष्य को दुःखी बनाती हैं। मनुष्य इन्हीं वासनाओं से बंधे हुए गुलाम होते हैं। इन्हीं कामनाओं के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं और खिलौनो की तरह इधर से उधर पटक दिये जाते हैं। जिस शरीर को कोई भी वस्तु चूर्ण कर सकती है ऐसे शरीर की ही चिन्ता लिये हुए हम सदा बैठे रहते हैं। इसी कारण हम सतत भय की अवस्था में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैंने पढ़ा है कि मृग को अपने डरके कारण प्रति दिन ६०।७० मील की दौड़ लगानी पड़ती है। मीलों वह दौड़ ही दौड़ लगाता है और तत्पश्चात् थोड़ा रुककर कुछ खाता है। परन्तु हमें यह जान लेना चाहिये कि हम मृग से भी बदतर स्थिति में हैं। मृग को तो कुछ आराम मिलता है पर हमें आराम कहां? यदि मृग को पर्याप्त तृण मिल जावे तो वह सन्तुष्ट हो जाता है पर हम तो अपनी जरूरियात सदा बढ़ाते ही रहते हैं। अपनी आवश्यकता ओं को बढ़ाने की हमारी प्रवृत्ति बहुत दूषित प्रवृत्ति है। हम ऐसे चलचित्त और अप्राकृतिक बनगये हैं कि हमें किसी भी प्राकृतिक वस्तु से सन्तोष नहीं होता। हम सदा दूषित चीजों के पीछे अस्वाभाविक उत्तेजनाओं के पीछे दौड़ा करते हैं। हमें खान-पान,

आसपास की चीजें और जीवन भी अस्वाभाविक चाहिये। हम सांस लेने के लिये वायु को भी पहिले जहरीली बना लिया करते हैं। डर की बात तो पूछिये ही नहीं। हमारा सारा जीवन ही अने कों डर का समूह छोड़ और क्या है? हरिण को केवल एक ही प्रकार के जीवों का-बाघ, भेड़िया, इत्यादि प्राणियों का डर रहता है तो मनुष्य को सारी सृष्टि से डर बना रहता है।

इससे हम अपने को कैसे मुक्त कर सकते हैं यही प्रश्न है। उपयोगितावादी खड़े होकर पुकारते हैं "ईश्वर और परलोक की बातें मत करो। हमें इन के विषय में कुछ मालूम नहीं है। इस संसार में ही सुख की जिन्दगी बिताना उचित है।" यदि हम ऐसा कर सकते तो मैं तो सब से पहिले यही करता पर दुनियां हमें ऐसा करने दे तब न? जब तक तुम प्रकृति के गुलाम हो तब तक ऐसा कर ही कैसे सकते हो? तुम जितना ही अधिक प्रयत्न करते हो उतना ही अधिक उलझते जाते हो। न मालूम कितने वर्षों से तुम कितनी तजवीजें कर रहे हो पर हर समय अन्त में यही देखते हो कि अवस्था उत्तरोत्तर अधम होती दिख रही है। दो सौ वर्ष पहिले पुरानी दुनियां में, मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं पर जैसे २ मनुष्य का ज्ञान अंकगणित के जोड़ के क्रम से बढ़ता गया उस की आवश्यकताएँ गुणन क्रम से बढ़ती गईं।

हम सोचते हैं कि मोक्ष पाने पर या स्वर्ग जाने से हमारी इच्छाएँ अवश्य पूर्ण हो जावेंगी इसी कारण हम स्वर्ग जाने की इच्छा करते हैं। यह तृष्णा अनंत है और कभी बुझनेवाली नहीं ! सदा किसी न किसी वस्तु की कमी बनी ही रहती है ! यदि मनुष्य भिखारी है तो उसे धन चाहिये। यदि धनी होगया तो उसे अन्य चीजें चाहिये, समाज चाहिये और उसके बाद भी कुछ और चाहिये। आराम या शांति कभी मिलती ही नहीं ! इस तृष्णा को हम कैसे बुझा सकते हैं ? यदि हम स्वर्ग को जाते हैं तो हमारी इच्छाओं की और वृद्धि ही होती है। यदि गरीब आदमी धनी हो जाता है तो उसकी वासना तृप्त नहीं होती। वह तो अग्नि में घृत छोड़ने के समान उसकी प्रदीप्त ज्वालाओं की वृद्धि ही करता है। स्वर्ग जाने का अर्थ है अत्यधिक धनवान् होना और तब तो वासना अधिकाधिक बढ़ती है। हम संसार के भिन्न २ धर्म ग्रंथों में पढ़ते हैं कि स्वर्ग के देवता मनुष्यों की तरह कई प्रकार की शरारतें किया करते हैं। वहां स्वर्ग में सदा बहुत सज्जन बसते हैं ऐसा नहीं है। आखिर यह स्वर्ग जाने की इच्छा भी तो सुख भोग की वासनाही है। इस इच्छा का परित्याग करना चाहिये। आप लोगों के लिये स्वर्ग जाने का विचार करना बहुत हीन और तुच्छ बात है। यह ठीक उसी विचार के सरीखा है कि मैं करोड़पति होऊंगा और

लोगों पर हुकूमत करूंगा। ऐसे स्वर्ग तो अनेक हैं पर धर्म और प्रेम के द्वार में प्रवेश करने का अधिकार इन स्वर्गों के द्वारा आप प्राप्त नहीं कर सकते।

पंचमोध्याय ।

# प्रतिमा के भेद ।

संस्कृत भाषा में दो शब्द हैं " प्रतीक " और " प्रतिमा " । 'प्रतीक' का अर्थ है उस ओर जाना या समीप पहुँचना । सभी धर्मों में उपासना की कई श्रेणियाँ हैं । उदाहरणार्थ-इसी देश में ऐसे लोग हैं जो साधुओं की मूर्ति की पूजा करते हैं और ऐसे लोग भी हैं जो किसी मूर्ति आकृति या चिन्हों की पूजा करते हैं । फिर ऐसे भी लोग हैं जो मनुष्य से उच्चतर प्राणियों की पूजा करते हैं-और ऐसों की संख्या बहुत जोर से बढ़ रही है-जो परलोकगत आत्माओं के पुजारी हैं । मैंने पढ़ा है कि इस तरह के लोग यहां ८० लाख हैं । तदुपरांत और भी दूसरे लोग हैं जो उच्च श्रेणी के व्यक्तियों-देवदूत, देवता, इत्यादि-की पूजा करते हैं । इन भिन्न २ श्रेणियों में से भक्तियोग किसी का तिरस्कार नहीं करता । इन सब को एक नाम 'प्रतीक' के अन्तर्गत लेकर प्रतीक-पूजा कह कर मानता है । ये सब ईश्वर की उपासना नहीं कर रहे हैं पर प्रतीक की-एक ऐसी वस्तु जो ईश्वर के करीब या समीप है उसकी-उपासना कर रहे हैं । इन सभी

चीजों के मार्ग से वे ईश्वर की ओर पहुँचने की खटपट कर रहे हैं। यह प्रतीक–पूजा हमें मुक्ति और स्वातंत्र्य के पद तक नहीं पहुंचा सकती। यह पूजा हमें उन खास चीजों को ही दे सकती है जिनके लिये हम उनकी पूजा करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई अपने मरे हुए पूर्वजों की या मरे हुए मित्रों की पूजा करता है तो उनसे शायद कुछ शक्तियां या कुछ संदेशा प्राप्त करले। इन पूज्य वस्तुओं से जो विशेष देनगी मिलती है वह विद्या या विशेष ज्ञान कहलाती है। पर हमारा अंतिम ध्येय मुक्तिलाभ तो हमें स्वयं भगवान् की ही पूजा से प्राप्त होता है। वेदों की व्याख्या करते समय कुछ संस्कृत के पंडित यह कहते हैं कि स्वयं सगुण ईश्वर भी वेदों में प्रतीक ही हैं पर यह अर्थ ठीक नहीं है। सगुण ईश्वर चाहे प्रतीक मान लिया जावे पर प्रतीक न तो सगुण ईश्वर होते न निर्गुण ईश्वर। उनकी पूजा ईश्वर जैसे नहीं की जा सकती। अतः यदि लोग ऐसा समझने लगें कि इन भिन्न २ प्रतीकों की–देवदूतों, पूर्वजों, या पवित्र पुरूषों (महात्मा सन्त इत्यादिकों) की या मृतात्माओं की–पूजा द्वारा हम कभी भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं तो यह उनकी बड़ी भूल होगी। अधिक से अधिक यही संभव है कि इनके द्वारा वे कुछ शक्तियां मिला सकते हैं पर मुक्त तो उन्हें केवल ईश्वर ही कर सकता है। परंतु इस कारण

इन प्रतीकों का तिरस्कार करना नहीं है; उनकी पूजा का कुछ फल होता ही है। जो मनुष्य इस से और उच्च विषय को नहीं समझता वह इन प्रतीकों से कुछ शक्ति, कुछ सुख प्राप्त करले; पर दीर्घ काल के अनुभव के उपरांत जब वह मुक्तिलाभ करने के लिये तयार हो जावेगा तब वह अपने आपही इन प्रतीकों को त्याग देगा।

इन सब भिन्न २ प्रतीकों में से सब से अधिक प्रचार परलोकगत मित्रों की पूजा का ही है। मित्रों के लिये व्यक्तिगत प्रेम मानव प्रकृति में इतना दृढ़ होता है कि जब हमारे मित्र की मृत्यु हो जाती है तब हम पुनः एक बार उनका दर्शन करना चाहते हैं। हम उनके शरीरों को छाती से लगा लिया करते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि उन की जीवितावस्था में उन के शरीर में सदा परिवर्तन हुआ करता था। और मरने पर हम समझते हैं कि वे स्थायी हो जाते हैं और हम उन्हें उसी तरह देख सकें गे। यही नहीं, यदि मेरा मित्र या पुत्र जो जीवन काल में दुष्ट था वह अब मर गया है तो मैं समझता हूं कि वह बड़ा सज्जन था और वह अब मेरे लिये ईश्वर बन गया है। हिंदुस्थान में ऐसे लोग हैं जो मृत शिशु के शरीर को जलाते नहीं वरन् गाड़ देते हैं और उस

पर एक मन्दिर बना देते हैं और वह छोटा शिशु उस मंदिर का ईश्वर बन जाता है। किसी भी देश में धर्म का यह बहुत प्रचलित तरीका है। और ऐसे तत्ववेत्ताओं की कमी नहीं है जो समझते हैं कि सब धर्मों का मूल यही रहा है। पर यह निश्चय है कि वे इसे सिद्ध नहीं कर सकते। तौ भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतीकों की पूजा हमें मोक्ष या मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। दूसरे इसमें डर (या जोखिम) भी बहुत है। डर इस बात का है कि प्रतीक या "सलोपी अवस्था" जहां तक कि हमें और आगे की सीढ़ी में पहुँचाते हैं वहां तक तो ठीक है पर संभावना ९९ प्रति शत तो यह है कि हम सारी जिंदगी इन्हीं प्रतीकोंसेही चिपके रहेंगे। किसी विशेष धर्म में जन्म लेना तो बहुत अच्छा है पर उसी में मरना बहुत बुरा है। अधिक स्पष्ट रीति से और कहा जाय तो किसी सम्प्रदाय में जन्म लेना और उसकी शिक्षा ग्रहण करना बहुत अच्छा है। उससे सद्गुणों का विकास होता है। पर अधिकांश संख्या तो ऐसों की ही होती है कि जो उसी छोटे से सम्प्रदाय में रहते हुए ही मृत्युको प्राप्त हो हो जाते हैं। न वे उससे बाहर निकलते और न उनकी उन्नति होती। इन सब प्रतीकों की उपासना में बहुत बड़ा भय यही है। मनुष्य तो कहता है कि ये सब मार्ग की सीढ़ियां हैं जिनके द्वारा वह अपने ध्येय की ओर जारहा

है पर जब वह बूढ़ा हो जाता है तो भी हम उसे उन्हीं में चिपके हुए पाते हैं। यदि कोई युवक चर्च को नहीं जाता तो वह निंदनीय है और यदि कोई वृद्ध बुढ़ापे में भी चर्च का जाना जारी रखता है वह भी निंदा का पात्र है। उसका अब बच्चे के खेल से और क्या मतलब? चर्च द्वारा उसे अबतक कोई उच्चतर वस्तु प्राप्त हो जानी चाहिये थी। उसे अब बुढ़ापे में उपासना-विधि और प्रतीकों से और उसी तरह की प्रारंभिक साधनाओं से क्या प्रयोजन?

"ग्रंथपूजा" इस प्रतीक का एक जबरदस्त नमुना बल्कि सब से बढ़ कर नमूना-है। प्रत्येक देश में यही पाओगे कि ग्रंथ ने ईश्वर का स्थान ले रक्खा है। मेरे देश में कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनका विश्वास है कि ईश्वर अवतार लेकर मनुष्य बनता है, पर ईश्वर को अवतारी पुरुष बन कर वेदों के अनुसार ही चलना चाहिये। और यदि उस के उपदेश वेदों से असंगत हैं तो उन उपदेशों को लोग नहीं मानेंगे। बौद्धों के सिवाय अन्य सब सम्प्रदाय वाले भी बुद्ध की पूजा करते हैं। पर यदि तुम उनसे कहो कि "यदि तुम बुद्ध की पुजा करते हो तो तुम उनके उपदेशों को क्यों नहीं मानते?"। उत्तर यही मिलेगा कि उनके उपदेशों ने वेद को स्वीकार नहीं किया है। ग्रंथ पूजा का यही अर्थ निकलता है। धर्मग्रंथ के नाम

से चाहे जितनी मिथ्या बातें उचित हो सकती हैं। हिंदुस्थान में यदि मैं किसी नई बात की शिक्षा देना चाहूं और सिर्फ यही कहूं कि यह तो मैं अपने ही अधिकार से या जैसा मैं समझता हूं वैसा बता रहा हूं तो मेरी कोई न सुनेगा। पर यदि मैं वेदों से कुछ ऋचाएँ निकालकर उन्हीं का तोड़-मरोड़ करूं और उनका अति असंभव अर्थ भी निकालूं, उस में जो कुछ भी सयुक्तिक है उस का गला घोंट डालूं और स्वयं अपने विचारों को ही वेदों का तात्पर्य कह कर जाहिर करूं तो सभी मूर्ख मुंड के मुंड मेरे पीछे चलें गे। फिर ऐसे भी मनुष्य हैं कि जो जोरके साथ ऐसे ईसाई धर्म का उपदेश करते हैं कि साधारण ईसाई उसे सुन कर घबरा जाता है; पर वे तो यही कहते हैं कि "ईसामसीह का यही मतलब था"। तब तो सभी मूर्ख उन के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। कोई भी नई बात—यदि वह वेदों में या बाइबिल में नहीं है तो उसे वे नहीं सीखना चाहते। यह तो ज्ञान तंतुओं से संबंध रखने वाली बात है। कोई भी नई और अद्भुत बात सुनते ही तुम चौंक उठते हो या तुम जब कोई नई चीज देखते हो तो चौंक पड़ते हो—यह तो मनुष्य की प्रकृति ही है। विचारों के संबंध में ऐसा और भी अधिक होता है। मन लीकों में ही दौड़ता है (मन पुरानी लकीर का फकीर हुआ करता है)

नये विचार के ग्रहण करने में अत्यधिक प्रयास पड़ता है अतः ऐसे नये विचार को पुरानी लीकों के पास ही ले जाकर रखना पड़ता है और तभी हम उसे धीरे से ग्रहण कर लेते हैं। यह हिकमत तो अच्छी है पर बुरी नीति है। विचार तो कीजिये ये सुधारक लोग जिन्हें हम उदार मत के उपदेशक कहा करते हैं कैसे ढेर के ढेर असम्बद्ध (या झूठ) बातों का समाज में आज प्रचार कर रहे हैं। ईसाई विज्ञानियों के मतानुसार ईसामसीह एक आरोग्य देने वाला सिद्धहस्त वैद्य था। अध्यात्म वादियों के मत में वह बड़ा मान्त्रिक था। और थियासोफिस्टों के मत में वह महात्मा था। ये सब भाव एक ही पुस्तक के वाक्य से निकालना है। वेदों में एक वाक्य है कि "केवल सत् का ही अस्तित्व था। हे प्यारे! आदि में और कुछ नहीं था।* इस वाक्य के "सत्" शब्द के अनेकों अर्थ लगाये जाते हैं। परमाणुवादी कहते हैं कि सत् शब्दका अर्थ परमाणु है और इन्हीं परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण हुआ। प्रकृतिवादी कहते हैं कि उस शब्द का अर्थ प्रकृति है और प्रकृति से ही सब चीजों की उत्पत्ति हुई है। शून्यवादी

---

* " सदेव सोम्येदग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। "

छान्दोग्योपनिषद् ६–२–१.

(निहिलिष्ट) कहता है कि उस शब्द का अर्थ है "कुछ नहीं" "शून्य" और शून्य से सब कुछ बना है। आस्तिक कहते हैं कि उस शब्द का अर्थ "ईश्वर" है और अद्वैत वादी कहते हैं उसका अर्थ है पूर्ण सत्य। इतनी भिन्नता होते हुए भी सब कोई उसी वाक्य को अपना २ प्रमाण बताते हैं।

"पुस्तक पूजा" में ये ही दोष हैं परंतु साथ ही साथ उसमें एक गुणभी है। उससे मजबूती आती है। जिन २ सम्प्रदायों की पुस्तक थी उन्हें छोड़ बाकी सब सम्प्रदायों का लोप होगया। पुस्तकवालों की हत्या कोई नहीं कर सकता ऐसा प्रतीत होता है। आप लोगों में से किसी किसी ने पारसी लोगों का नाम सुना होगा। वे लोग पुराने ईरान देशवासी थे और उनकी संख्या एक समय लगभग १ अरब थी। अरब के लोगों ने उन्हें जीता और आधुनिक पारसी अपने घर (स्वदेश) में तो मुसलमान ही हो गये हैं। उनमें से मुट्ठीभर पारसी अपने ग्रंथ को लेकर अपने सताने वालों के पास से भागे और उसी ग्रंथने उन्हें आज तक कायम रखा है। फिर यहूदियों का विचार कीजिये। यदि उनका ग्रंथ न होता तो दुनियां में वे कब के घुल गये होते पर उनका ग्रंथही उनकी जीवनी शक्ति को बनाये रक्खा है। उनके "तालमूद" ने ही उनपर घोर अत्याचार होते हुए

भी उन्हें बनाये रक्खा है। यही ग्रंथ का सब से बड़ा लाभ है। वह ग्रंथही सभी बातों को एक निश्चित रूप देकर प्रत्यक्ष और सुभीते के आकर में एकत्र रख देता है और अन्य सब प्रतिमाओं की अपेक्षा आसानी से उपयोग में लाया जा सकता है। ग्रंथको वेदी पर रख दीजिये। सभी उसका दर्शन करते हैं और अच्छी पुस्तक को हर कोई पढ़ता है। मुझे इस बात का भय है कि मैं पक्षपाती न समझा जाऊँ। पर मेरे मत में तो पुस्तकों से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। ये पुस्तकें ही कई भ्रमात्मक सिद्धान्तों के लिये उत्तरदायी हैं। भिन्न २ मत पुस्तकों से निकलते हैं और पुस्तकों पर ही दुनियां के धार्मिक अत्याचारों और कट्टरता की जिम्मेदारी है। आधुनिक काल में पुस्तकें ही सर्वत्र मिथ्यावादी बना रही हैं। हर देश में असत्यवादियों की जो संख्या फैली हुई है उसे देखकर तो मैं अवाक् हो जाता हूं।

दूसरा विचारणीय विषय है "प्रतिमा," या मूर्ति-मूर्तियों का उपयोग। संसार में सर्वत्र एक न एक रूप में मूर्तियां आप को मिलेंगी ही। कहीं तो उस मूर्ति का आकार मनुष्य का है और यही सब से बढ़िया आधार है। यदि मैं किसी मूर्ति की पूजा करना चाहूं तो मैं उसे पशु की, इमारत की या अन्य आकृति की अपेक्षा मनुष्य की ही आकृति का रखूंगा। एक संप्रदाय समझता है कि

अमुक रूपमें ही मूर्ति ठीक तरह की है तो दूसरा समझता है नहीं वह बुरी है, या ठीक नहीं है। क्रिस्तान लोग समझते हैं कि जब ईश्वर कबूतर के रूप में आया तब तो ठीक था पर यदि ईश्वर गाय के रूप में आता है जैसा कि हिंदू लोग मानते हैं तब वह बिलकुल गलत है और मिथ्या विश्वास है। यहूदी समझते हैं कि यदि मूर्ति सन्दूक के आकार की है जिसकी छाती पर दो देवदूत बैठे हों और उस में एक पुस्तक हो तब तो वह ठीक मूर्ति है और यदि वही मूर्ति पुरुष या स्त्री के आकार की हो तो उससे बड़ी हानि है। मुसलमान समझते हैं कि नमाज़ के समय यदि "काबा का काला पत्थर" वाले मंदिर की एक आकृति अपने मन में लाने का प्रयत्न करें और पश्चिम की ओर अपना मुंह करलें तो बिलकुल ठीक है; पर यदि चर्च के आकार की मूर्ति बनी हो तो वह बुतपरस्ती ( Idolatry ) है। यह है मूर्ति-पूजा का दोष। तथापि ये सभी तो आवश्यक सिढ़ियां मालूम होती हैं। पर पुस्तकों में हमारा अंध विश्वास जितना ही कम हो उतना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है। हमने स्वयं क्या अनुभव किया यही सवाल है। ईसा बुद्ध या मूसा ने जो किया उससे हमें कोई मतलब नहीं जब तक कि हमभी अपने लिये वही अनुभव न प्राप्त करें। यदि हम एक कमरे में बंद हो जाँय और मूसा ने जो खाया उसका विचार किया करें तो हमारी क्षुधा उससे शांत

नहीं हो सकती और न मूसा के जो विचार थे उनको सोचने से हमारी मुक्ति ही हो सकती। इन अर्थों में मेरे विचार बिलकुल मौलिक ( स्वतंत्र ) हैं। कभी २ तो मैं यह सोचता हूं कि मेरे विचार ठीक हैं क्योंकि मेरे विचार पुराने आचार्यों के विचारों से मिलते हैं और दूसरे समय मैं यह समझता हूं कि उन लोगों के विचार ठीक हैं कारण कि वे मुझ से सहमत हैं। स्वतंत्रता पूर्वक विचार करने में मेरा विश्वास है। इन धार्मिक आचार्यों से बिलकुल स्वतंत्र रह कर विचार करो। उनका आदर सब प्रकार से करो पर धर्म की खोज तो स्वतंत्र होकर ही करो। मुझे अपने लिये प्रकाश अपने आप ढूंढ़ निकालना होगा जैसा कि उन्होंने अपने लिये खोज निकाला था। उन्हें जिस प्रकाश की प्राप्ति हुई उससे हमारा संतोष कदापि न होगा। आप को स्वयं बाइबिल "बनना पड़ेगा।" न कि बाइबिल का अनुसरण करना। हां केवल रास्ते के दीपक के समान, राह प्रदर्शक तख्ती या निशान के समान उसका आदर करना होगा। पुस्त की सारी उपयोगिता इतनी ही है। पर ये मूर्तियां और अन्य वस्तु बिलकुल आवश्यक हैं। अपने मन को एकाग्र करने के प्रयत्न में, या किसी विचार पर मनको दृढ़ रखने के लिये भी आप देखेंगे कि अपने मन में मूर्ति या आकृति बनाने की आवश्यकता स्वाभाविक रीति से होती है। उसके बिना

काम चल नहीं सकता। दो प्रकार के मनुष्यों को किसी मूर्ति की कभी आवश्यकता नहीं होती–एक तो मानव रूपधारी पशु जो कभी धर्म का विचार ही नहीं करता और दूसरा पूर्णत्व को प्राप्त हुआ व्यक्ति जो इन सब सीढ़ियों को पार कर गया है। इन दोनों छोरों के बीच में हम सब को किसी न किसी बाहरी या भीतरी आदर्श की आवश्यकता है यह आदर्श चाहे किसी स्वर्गीय मनुष्य के रूप का हो या जीवित पुरुष या स्त्री के रूप का हो यह व्यक्तित्व और शरीरों की पूजा है और बिलकुल स्वाभाविक है। हमारी प्रवृत्ति ही स्थूल रूप देने की है। यदि हम स्थूल रूप देने वाले न होते तो यहां रहते ही कैसे? हम स्थूलरूप धारी आत्मा हैं और इसी कारण हम आज अपने को यहां इस पृथ्वी पर पाते हैं। स्थूल रूप ने हमें यहां लाया और वही हमें यहां से बाहर निकालेगा। "विषस्य विषमौषधम्" "कण्टकेनैव कण्टकम्"। इन्द्रिय विषयक पदार्थों की ओर झुकने के कारण हमारा मनुष्य रूप हुआ है और हम कहने के लिये चाहे जो भी इस के विरुद्ध कहें पर हम मानवरूप व्यक्तियों की ही पूजा या उपासना करने के लिये बाध्य हैं "व्यक्ति की उपासना मत करो" कहना तो बहुत आसान है पर साधारणतः जो मनुष्य ऐसा कहता है वही मनुष्य अत्यधिक व्यक्तित्व की उपासना करने वाला

देखा जाता है। खास २ पुरुषों और स्त्रियों के प्रति उसकी अत्यधिक आसक्ति रहा करती है। उन लोगों की मृत्यु के पश्चात् भी वह आसक्ति नहीं छूटती और मृत्यु के उपरान्त भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यही मूर्ति पूजा है। यही मूर्ति पूजा का आदि कारण या बीज है और कारण का अस्तित्व रहते हुए वह किसी न किसी रूप में अवश्य प्रगट होगा। क्या किसी साधारण पुरूष या स्त्री के प्रति आसक्ति रखने की अपेक्षा क्राइस्ट या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति रखना बेहत्तर नहीं है? पाश्चात्य लोग कहते हैं-"क्राइस्ट की मूर्ति के सामने घुटने टेकना बुरी बात है" पर वे लोग किसी स्त्री के सामने घुटने टेक कर "तुम्हीं मेरे प्राण हो, मेरे जीवन की ज्योति हो, मेरी आंखों के प्रकाश हो, मेरी आत्मा हो" ऐसा कहने में दोष नहीं मानते। यह तो मूर्ति पूजा से भी गईबीती बात है। उस स्त्री को "मेरी आत्मा" "मेरे प्राण" कहना-यह है क्या बात, चार दिनोंके बाद ये सब भाव काफूर हो जाते हैं। यह केवल इन्द्रियों की आसक्ति है। फूलों की ढेर से ढँका हुआ यह स्वार्थ का प्रेम है या उससे भी बदतर है। कवि लोग इसका सुंदर नाम करण कर देते हैं और उसपर गुलाब जल छिड़क देते हैं पर है वह असल में वही घृणित प्रेम। क्या इसकी अपेक्षा बुद्धकी प्रतिमा या जिनेन्द्रकी

मूर्ति के सामने घुटने टेककर ऐसे कहना कि "तूही मेरा प्राण है" बेहत्तर नहीं है? मैं तो उसके बदले इसको सौ बार कहूं!

एक प्रकार का प्रतीक और है जिसे पाश्चात्य देशों में नहीं मानते पर उसकी शिक्षा हमारे ग्रंथों में है। वह है मन को ईश्वर मानकर पूजा करना। किसी भी वस्तुको ईश्वर मानकर पूजा करना एक सीढ़ी ही है। उससे परमेश्वर की ओर मानों एक कदम बढ़ने उसके कुछ अधिक समीप जाने के समान है। यदि कोई मनुष्य अरुन्धती तारे को सप्तर्षि के समीप के एक अति छोटे तारे को देखना चाहता है तो उसे उसके समीप का एक बड़ा तारा पहिले दिखाया जाता है और जब उसकी दृष्टि उस बड़े तारे पर जम जाती है तत्पश्चात् उसको उसके बाद दूसरा बड़ा तारा दिखाते हैं। ऐसा कहते २ क्रमशः उसको "अरून्धती" तक ले जाते हैं। उसी तरह ये भिन्न प्रतीक और प्रतिमाएँ ईश्वर तक पहुँचा देती हैं। बुद्ध और ईसा की उपासना प्रतीक पूजा है। इससे ईश्वर की उपासना के समीप पहुँचते हैं। पर बुद्धकी पूजा या ईसा की उपासनासे मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता उसे तो इसके और आगे-जिस ईश्वर ने बुद्ध और ईसा के रूप में अपने को प्रगट किया उस ईश्वर तक-जाना चाहिये। क्यों कि अकेला ईश्वर ही हमें मुक्ति दे सकता है। कुछ

तत्ववेत्ता ऐसे हैं जो कहते हैं कि इन को ही ईश्वर मानना चाहिये, ये प्रतीक नहीं हैं, ये तो स्वयं भगवान् हैं। स्वयं ईश्वर हैं तथापि हमें इन से चिढ़ने का कोई कारण नहीं है। हम तो इन सब भिन्न २ प्रतीकों को मुक्ति के मार्ग के विभिन्न सोपान या भिन्न २ सीढ़ियां मान सकते हैं। पर इन प्रतीकों की उपासना करने में यदि हम यह समझें कि हम ईश्वर की उपासना कर रहे हैं तो यह हमारी भूल है। यदि मनुष्य ऐसा समझता है कि ईसा की उपासना करने से ही अपना उद्धार हो जावेगा तो यह उसकी निरी भूल है। यदि कोई मनुष्य किसी मूर्ति की भूतों की या मृत पुरुषों की आत्माओं की पूजा करता है और उसी से वह अपना उद्धार होगा ऐसा मानता है तो वह सर्वथा भ्रम में है। पर तुम पूजा तो किसी वस्तु की-उस वस्तु में ईश्वर को देखते हुए-कर सकते हो। मूर्ति को भूल जाओ और उसमें ईश्वर का दर्शन करो। तुम किसी वस्तु का आरोपण ईश्वर पर मत करो याने किसी वस्तु को ईश्वर मत मान बैठो पर तुम चाहे जिस वस्तु के भीतर ईश्वर का आरोपण (प्रवेश) कर सकते हो। इस का अर्थ यह है कि जिस आकृति की तुम पूजा करते हो ईश्वर को उसी के भीतर सीमाबद्ध मत कर रक्खो पर उस आकृति को और अन्य जिस भी आकृति की तुम पूजा करना चाहो उसे भी ईश्वर से भर दो

थाने ईश्वर से पूर्ण जानो। इस तरह आप एक बिल्ली में ईश्वर की पूजा कर सकते हैं। बिल्ली को भूल जाओ और उस में ईश्वर को विराजमान् कर लो, तुम्हारा यह कार्य बिलकुल ठीक होगा क्योंकि "उसी ईश्वर से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति है" वह ईश्वर सभी वस्तुओं में है। हम एक चित्र की पूजा ईश्वर की तरह कर सकते हैं पर ईश्वर को वह चित्र मानकर नहीं। चित्र में ईश्वर की भावना करना ठीक है पर चित्र को ईश्वर समझना भूल है। बिल्ली के भीतर ईश्वर का अनुभव करना बिलकुल ठीक है उसमें कोई आपत्ति नहीं। यह तो ईश्वर की यथार्थ पूजा है। परंतु बिल्लीरूपी ईश्वर तो प्रतीक मात्र है।

तत्पश्चात् भक्ति में बड़ी बात है "शब्द"—नामशक्ति या नाम का प्रभाव। सारा विश्व नाम और रूप से बना है। या तो नाम और रूप का संयोग है या कि केवल नाम ही है और रूप मानसिक कल्पना है। अतः अन्ततो गत्वा, नाम और रूप छोड़ कर और कुछ नहीं है। हम सबका यही विश्वास है कि ईश्वर का न तो नाम है न रूप है पर ज्योंही हम उस के (ईश्वर के) विषय में सोचते हैं तब हम उसे नाम और रूप दोनों दे देते हैं। "चित्त" एक शांत जलाशय के समान है और विचार उस "चित्त" में तरंग के समान

हैं। नाम और रूप ही इन तरंगों के उठने के सामान्य तरीके हैं। नाम और रूप के बिना कोई तरंग नहीं उठ सकता। नित्य एक ही रूप या सदा एकरस का चिंतन नहीं किया जा सकता। वह चिंतन के परे है। ज्योंही वह विचार और विचार्य वस्तु बन जाता है त्योंही उस का नाम और रूप होना ही चाहिये। हम इनको अलग नहीं कर सकते। कई पुस्तकों में लिखा है कि ईश्वर ने शब्द से इस सृष्टिकी रचना की। संस्कृत के "शब्द-ब्रह्म" में वही भाव है जो शब्द के सम्बंध में ईसाई मत का सिध्दान्त है। इस पुरातन भारतीय सिध्दान्त को भारतीय उपदेशक एलेकजेंड्रिया लेगये और वहां इस सिध्दान्त की जड़ जमाई। इस तरह वहां शब्द की और उसके साथ अवतार की कल्पना प्रतिष्ठित हुई। ईश्वरने समस्त वस्तुओं की रचना शब्द से की इस भावना में गूढ अर्थ है। स्वयं ईश्वर निराकार है अतः रूपों के यानी सृष्टि के-विस्तार के वर्णन करने का यह सुन्दर तरीका है। "रचना" या "उत्पन्न करना" के लिये संकृत शब्द है "सृष्टि" जिसका अर्थ है विस्तार। "ईश्वरने 'कुछ नहीं' या 'शून्य' से सब चीजों को बनाया" यह उक्ति कितनी निरर्थक है? विश्व या संसार का विस्तार ईश्वर से हुआ है। ईश्वर ही विश्व या संसार बन जाता है और उसी में वह संसार पुनः वापस समा जाता है और पुनः वहीं से बाहर

निकलता है और पुनः उसी में विलीन हो जाता हैं। सदाकाल यही क्रम चला करेगा। हम देखते हैं कि मन में किसी वस्तु का विचार (या प्रादुर्भाव) विना नाम और रूप के नहीं हो सकता। कल्पना करो कि तुह्मारा मन बिलकुल शान्त है उस में कोई विचार या भावना नहीं हैं। तथापि कोई विचार मन में उठते हीं तुरन्त वह नाम और रूप धारण करलेगा। प्रत्येक विचार का कोई न कोई नाम और एक न एक रूप हुआ ही करता है। इस तरह सृष्टि या विस्तार वस्तु ही ऐसी है कि उसका नाम और रूप से नित्य सम्बंध है इस से हम यह देखते हैं कि मनुष्य जो भी विचार करता है या कर सकता है उस का सम्बंध किसी शब्द से उस के अंगभूत की तरह होना चाहिये। ऐसा होते हुए जैसे तुह्मारा शरीर तुम्हारे मानसिक विचार का परिणाम या विकास है-मानों तुह्मारा विचार ही स्थूल रूप धारण करके बाहर आगया है, ठीक उसी तरह इस संसार को भी मन से उत्पन्न हुआ या मनका ही विकास मानना बिलकुल स्वाभाविक है। और यदि यह सत्य है कि संसार एक ही पैमाने पर बनाया गया है तो यदि तुम एक परमाणु की रचना कैसे हुई यह जान लो तो सारे विश्व की रचना कैसे हुई यह समझ सकोगे। यह सच है कि स्वयं हमारे शरीर में बाहरी शरीर से तो स्थूल रूप बना है और अंतर में विचारसे उस का सूक्ष्मतर अंश

घना है और दोनों का शाश्वत अटूट अविच्छेद्य सम्बंध है तब जिस समय तुम्हारे शरीर का अंत हो जावेगा उस समय तुम्हारे विचार का भी अंत हो जावेगा। यह तो तुम प्रतिदिन देख सकते हो। जब किसी मनुष्य के दिमाग में गड़बड़ हो जाती है तो उस के विचारों में भी गड़बड़ी मच जाती है क्योंकि दोनों यथार्थ में एक ही-स्थूल और सूक्ष्म अंश-हैं। जड़ पदार्थ और मन ऐसी दो वस्तुएँ हैं ही नहीं। जैसे वायु के उच्च विस्तार में उसी वायु-तत्त्व का ही घना ( स्थूल ) और पतला ( सूक्ष्म ) रहना पाया जाता है। जैसे २ ऊंचे जाओ वैसे २ वायुका परिमाण पतला याने सूक्ष्म और सुक्ष्मतर होता जाता है उसी तरह शरीर को भी जानिये। यहां से वहां तक सम्पूर्ण एक ही वस्तु है केवल एक तह या परत पर दूसरी तह या परत स्थूलतर से सूक्ष्मतर होता गया है, पुनः यह शरीर अंगुली के नखों के समान है। जैसे हम अपने नखों को काटते हैं और पुनः वे नख बढ़ जाते हैं उसी तरह हमारे सूक्ष्म विचारों से ही एक के बाद एक शरीर उत्पन्न हुआ करते हैं। जो वस्तु जितनी ही अधिक सूक्ष्म हो वह उतनी ही अधिक स्थायी होती है यही हम सदा देखते हैं। जितना ही स्थूल तर हो उतना ही कम स्थायी होता है। इस तरह हम देखते हैं कि उसी एक प्रगट होने वाली शक्ति जिसे भाव या "विचार" कहते

हैं उसी की स्थूल अवस्था "रूप" है और उस की सूक्ष्म अवस्था "नाम" है। पर ये तीनों ही एक हैं-ये एक भी हैं और त्रिपुटी भी हैं-उसी एक वस्तु के अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ हैं। सूक्ष्मतम, घनीभूत। और अत्यन्त घनीभूत। जहां एक रहता है वहाँ और दोनों भी होते हैं। जहां नाम है वहां रूप और भाव है। यदि सृष्टि और शरीर एक ही नियम से बने हैं तो यही सिद्ध होता है कि सृष्टि में भी ये तीनों अवस्थाएँ या भेद-रूप, नाम, और भाव-होना चाहिये 'भाव' तो सृष्टि का सूक्ष्मतम अंश-यथार्थ प्रेरक शक्ति-जो ईश्वर कहाता है वह है। हमारे शरीर के पीछे जो 'भाव' है वह "आत्मा" कहाता है और सृष्टि के पीछे जो 'भाव' है वह "ईश्वर" कहाता है। तदुपरांत नाम आता है और सब से अंत में रूप जिसे हम देखते और स्पर्श करते हैं। उदाहरणार्थ तुम एक अमुक मनुष्य हो, इस विश्व सृष्टि में की एक छोटी सृष्टि-शरीर हो जिसका एक प्रकार का आकार है-और उस के पीछे एक नाम श्रीमान् "क" या श्रीमती "ग" है और उस के पीछे एक "विचार" या "भाव" है। उसी तरह यह समस्त विश्व सृष्टि है जो उससे अनंत गुना बड़ी है। उसका भी नाम है, जिस नाम से ही इस समस्त बाहरी संसार का विकास या विस्तार हुआ है। वह नाम है "शब्द" और उसके पीछे

है ईश्वर, सामुदायिक सर्व व्यापी भाव, सांख्य मतानुसार "महत्" या सर्वव्यापी चिच्छक्ति या ज्ञान। वह नाम क्या है? वह कौनसा नाम है? उसका कोई नाम तो होना ही चाहिये। सारा संसार सम प्रकृतिक है। आधुनिक और विज्ञान निश्चयपूर्वक यह सिध्द करता है कि प्रत्येक परमाणु उसी वस्तुसे बना है जिससे समग्र विश्व। यदि हम मिट्टीके एक ढेले को जान गये तो सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड को जान गये। यदि मैं इस मेजको पूरा पूरा हर एक पहलू से जान गया तो समग्र ब्रह्माण्ड को जान लिया मनुष्य इस ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि रूप या प्रतिबिम्ब रूप है। मनुष्य स्वयं ही ब्रह्माण्ड का छोटा स्वरूप है। मनुष्य में हम देखते हैं रूप है उस के पीछे नाम है और उस के पीछे भाव अर्थात् मननकारी व्यक्ति है। अतः ब्रह्माण्ड भी ठीक इसी ढांचे पर होना चाहिये। प्रश्न यह है कि वह नाम कौनसा है? हिंदू मत के अनुसार वह नाम या शब्द "ॐ" है। पुराने मिश्रवासी भी यही मानते थे। "जिसे प्राप्त करनेके लिये मन ब्रह्मचर्य साधता है "वह" क्या है यह मैं तुमसे संक्षेप में कहूंगा— "वह" है "ॐ"। * यही "स्वयं ब्रह्म" है, यही

---

* यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

—कठोपनिषद्।

पुराण पुरुष" है, जो इस "ॐ" के रहस्य को जानता है वह मनोवांछित वस्तु पाता है। *

यह "ॐ" ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या ईश्वर का नाम है। यह ॐ ही बाह्य सृष्टि और ईश्वर दोनों का सूचक दोनों के मध्यास्थित है। पर अब हम सृष्टि को उस के अंशरूप में लेंगे। भिन्न २ इन्द्रियां उसे जैसा अनुभव करती हैं याने स्पर्श, रूप, रस और अन्य रीतियों से विचार करें गे। हर हालत में हम इस सृष्टि को भिन्न २ दृष्टि से करोड़ों सृष्टि में विभक्त कर सकते हैं और प्रत्येक भाग स्वयं ही सम्पूर्ण सृष्टि होगा और प्रत्येक के नाम रूप रहेंगे और इन के पीछे भाव भी रहेगा। हर एक के पीछे रहने वाले यही भाव भिन्न २ प्रतीक हैं। प्रत्येक का नाम है। इन बहुत से नाम या शब्दों का व्यवहार भक्तियोग में होता है। इन नामों में प्रायः अपरिमित शक्ति है। इन नामों के जपने से ही हमें मन-वांछित फल की प्राप्ति हो सकती है, हम पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। पर दो बातों की आवश्यकता है। कठोपनिषद् का वाक्य है "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा"

---

* एतध्द्येवाक्षरं ब्रह्म एतध्द्येवाक्षरं परम्।
एतध्द्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्यतत्॥

—कठोपनिषद्।

(अलौकिक गुरू और वैसा ही शिष्य हो।) यह नाम ऐसे व्यक्ति से मिलना चाहिये जिसने यथार्थ उत्तराधिकार याने परम्परासे उसे प्राप्त किया हो आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत अत्यन्त पुरातन काल से उस शक्ति के साथ गुरू से शिष्य के पास परम्परासे वहता आया है। जिसके पास से इस शब्द की प्राप्ति होती है वह "गुरू" और जिसको यह शब्द दिया जाता है वह "शिष्य" कहलाता है। नियमित रूपसे जब शब्द की प्राप्ति हो चुकी और जहां उस शब्द या नाम का वारम्वार अभ्यास भी हो चुका तव भक्तियोग में बहुत प्रगति की जा चुकी। उस नाम के जप से ही भक्ति की उच्चतम अवस्था भी प्राप्त हो जावेगी। "तेरे" अनन्त नाम हैं। उनके क्या अर्थ हैं सो "तू" ही समझता है। ये सब नाम "तेरे ही हैं और इन में से प्रत्येक में "तेरी अनंत शक्ति है। इन नामों के जप के लिये न कोई विशेष काल चाहिये न कोई विशेप स्थान। सभी काल और सभी स्थान पवित्र हैं। "तू" इतना सुलभ है, "तू" इतना दयालु है। मैं कितना अभागा हूं कि "तेरे" प्रति मुझ में प्रेम नहीं है ॥*

---

* नाम्नामकारि वहुधा निजसर्व शक्ति-
तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैव मीदृशमिहाजनि नानुराग ः॥
—श्रीकृष्ण चैतन्य

## षष्ठोध्याय।

# इष्ट।

---

गत अध्याय में इष्ट के सम्बंध में कहा गया है उस इष्ट के सिद्धान्त को आप लोग ध्यान देकर सुनेंगे क्योंकि इसे ठीक २ समझलेनेपर दुनियां के सभी भिन्न २ धर्मों को समझ सकते हैं। इष्ट शब्द इष् धातु से बना है। इष् का अर्थ है अच्छा करना, पसंद करना, चुनना। सभी धर्मों का सभी संप्रदायों का आदर्श मानवजाति का आदर्श एक ही-मुक्तिलाभ और दुःखों की निवृत्ति ही-है। जहां कहीं धर्म देखोगे वहां यही पाओगे कि इसी आदर्श को एक न एक रूप में लेकर कार्य हो रहा है। यद्यपि धर्म की निचली श्रेणियों में यह आदर्श उतने स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता पर स्पष्ट हो या अस्पष्ट हो यही एक ध्येय है जिसकी ओर हम में से हर कोई अग्रसर हो रहा है। हम दुःखों से प्रति दिन की आपत्ति इत्यादि से छूटना चाहते हैं और मुक्ति पाने के लिये-भौतिक मानसिक और आध्यात्मिक मुक्ति लाभ के लिये छटपटा रहे हैं। संसार इसी सब भावना को लेकर काम कर रहा है। उद्देश्य एक ही होते हुए वहां तक पहुँचने के मार्ग चाहे भले ही भिन्न भिन्न हों। ये मार्ग हमारी प्रकृति की विशेषताओं

के अनुसार निश्चित किये जाते हैं। एक मनुष्य की प्रकृति भावुक, दूसरे की प्रकृति बुद्धिमयी और तीसरे की प्रकृति में कर्मशीलता है। इत्यादि इत्यादि। पुनः उसी प्रकृति में और भी अनेक प्रभेद हो सकते हैं। भक्ति के विषय में जिसका विशेष संबंध है उस प्रेम को ही उदाहरणार्थ लीजिये। एक मनुष्य की प्रकृति में बच्चे के लिये अधिक प्रेम हो, दूसरे की प्रकृति में पत्नी के लिये अधिक प्रेम हो, किसी में माता, किसी में पिता और किसी में मित्रों के लिये अधिक प्रेम हो। कोई अपने देश के लिये प्रेम करता है। और कुछ थोड़ेसे ही लोगों का प्रेम विशाल जन समुदाय या मनुष्य मात्र के प्रति हुआ करता है। ऐसे लोगों की संख्या यद्यपि बहुत कम होती है तथापि हर कोई इस की बात तो जरूर ही करता हैं मानों यही उन के जीवन का मार्गदर्शक और प्रेरक शक्ति हो। इस प्रकार के प्रेम का अनुभव कुछ सन्तों ने किया है। मानव समाज में से कुछ महान आत्माओं को ही इस सार्वजनिक या सर्वदर्शी प्रेम का अनुभव हुआ करता है और हमें यही आशा रखनी चाहिये कि यह संसार ऐसे महात्माओं से शून्य कभी भी न हो। हम देखते हैं कि एक ही साधन में साध्य की प्राप्ति के इतने २ भिन्न मार्ग हैं। सभी क्रिस्तान ईसामसीह में विश्वास करते हैं पर सोचो तो सही उनके बारे में कितने भिन्न २

विचार इन लोगों के होते हैं। हर एक चर्च या ईसाई सम्प्रदाय ईसामसीह को भिन्न २ रूप में देखता है, भिन्न २ दृष्टि कोण से देखता है। "प्रेस विटे रियन" की आंखों में ईसा के जीवन का वह दृश्य महत्त्व का जंचता है जब कि वे सिक्का वदलने वालों के पास गये। उन की आंखों में ईसा योद्धा ही जंचते हैं। यदि तुम "क्वेकर" से पूछोगे तो वह शायद यही कहेगा कि "उन्हों ने अपने शत्रुओं को क्षमा प्रदान की"। क्वेकर का यह मत है। इसी तरह और भी जानो। यदि रोमन कैथलिक से पूछोगे कि तुम्हें ईसामसीह की जीवनी का कौनसा अंश अतिप्रिय है तो वह शायद यही कहेगा कि जब "उन्हों ने कुंजीयां पीटर को दे दीं"। प्रत्येक सम्प्रदाय उन्हें अपने ही तरीके से देखने के लिये वाध्य है। इस से यह सिद्ध होता है कि इतने वहुत से भेद और प्रभेद एक ही मार्ग में होंगे। अज्ञानी जन इनमें से किसी एक प्रभेद को ले लेते हैं और उसी पर अवलम्बित रहते हैं और वे न केवल विश्वका अर्थ अपनी दृष्टि के अनुसार करने के दूसरों के एक को ही इनकार करते हैं वरन् यह कहने के भी साहस करते है कि दूसरों का मार्ग विलकूल गलत है और अकेले उनका ही मार्ग सत्य है। और यदि उनका कोई विरोध किया जावेगा तो वे लड़ने लगते हैं। वे कहते हैं कि वे जिस मनुष्य का धार्मिक विश्वास उन्हीं

की तरह नहीं हैं उसे वे कत्ल कर डालेंगे। ठीक वैसे ही जैसे कि कुछ धर्मान्धों ने भूतकाल में किया है, और भिन्न २ देशों में अब भी कर रहे हैं। ये लोग अपने को ही प्रमाणिक मानते हैं और बाकी दूसरे सबों को कुछ नहीं समझते। पर इस भक्तियोग में हम किस भाव का या किस भूमिका आश्रय लेना चाहते हैं? यही नहीं कि धर्मान्धों की तरह हम औरों से उनके मार्ग को गलत नहीं बतावेंगे कि आप जो अपने २ मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं वही मार्ग ठीक है। आपकी प्रकृति के अनुसार जो मार्ग आपके लिये बिलकुल आवश्यक हो वही आप के लिये यथार्थ मार्ग है। अपने पूर्व जन्म के फल स्वरूप प्रकृति में विशेषता लेकर हर एक मनुष्य पैदा होता है। चाहे उसे आप अपने पूर्व जन्म के कर्मोंका ही फल कहिये। अथवा पूर्वजों से प्राप्त संस्कार कहिये। आप उसकी व्याख्या चाहे जैसी कीजिये पर हम हैं तो अतीत के ही परिणाम। यदि कुछ भी सत्य है तो इतनी बात बिलकुल सत्य है। चाहे वह अतीत अवस्था हमारे पास किसी भी मार्ग से आई हो। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि हम में से हर एककी वर्तमान् दशा अपने भूतकालीन कारण का ही कार्य है। वर्तमान अतीत काही फल है। और इसी कारण हम में से प्रत्येक की विशेष गति, प्रत्येक की विशेष प्रवृति होती है और प्रत्येक को

अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना होगा। यही मार्ग, यही तरीका जो हम में से प्रत्येक की प्रवृत्ति के लिये अनुकूल है वह हमारा "इष्ट-मार्ग" कहलाता है। यही "इष्ट" का तत्व है। और जो मार्ग हमारा है उसे हम अपना इष्ट कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य की ईश्वर के कि वह (ईश्वर) विश्व का सर्व शक्तिसम्पन्न शासक है संभवतः उस मनुष्य की प्रकृति इसी तरह की है। वह एक अहंकारी मनुष्य है और सब पर शासन करना चाहता है। अतः वह स्वभावतः ईश्वर को सर्व शक्ति-सम्पन्न शासक मानता है। दूसरा मनुष्य जो कि शायद स्कूलमास्टर है और सख्त स्वभाव का है वह ईश्वर को न्यायी या दण्ड देने वाला ईश्वर मानता है। वह अन्य भावना नहीं कर सकता। हर एक व्यक्ति अपनी २ प्रकृति के अनुसार ईश्वर का रूप मानता है। और यही अपनी २ प्रकृति के अनुसार निर्माण किया हुआ रूप ही हमारा इष्ट होता है। हम अपने को ऐसी अवस्था में ले आये हैं जहां हम ईश्वर का वह रूप और केवल वही रूप देखते हैं; हम उसका कोई और रूप नहीं देख सकते। आप कभी कभी शायद किसी मनुष्य को उपदेश देते सुनकर यह सोचें गे कि यही उपदेश सर्व श्रेष्ठ है और आप के बिलकुल अनुकूल है। दूसरे ही दिन अपने एक मित्र को उस के पास जाकर उसका उपदेश सुनने को कहिये, पर वह तो

यही विचार लेकर लौटता है कि आजतक जितने उपदेश सुने उन सब में यही निकृष्ट है। उस का ऐसा कहना गलत नहीं है और उस के साथ झगड़ा करना निरर्थक है। उपदेश तो ठीक था पर उस मनुष्य के उपयुक्त नहीं था। और भी अधिक व्यापक रूप से कहा जावे तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि सत्य तो सत्य हो सकता है पर साथ ही साथ वह मिथ्या भी हो सकता है। इसमें विरोधाभास तो है पर यह याद रहे कि निरपेक्ष सत्य तो एक ही है पर सापेक्ष सत्य अनेक होना चाहिये। उदाहरणार्थ इस संसार के संबंध में ही अपनी भावना को लीजिये। यह विश्व एक निरपेक्ष अखंड वस्तु है जिस में परिवर्तन नहीं हो सकता और नहीं हुआ है। वह सदा एकरस रहता है पर आप हम और हर कोई इस विश्व का अलग २ रूप सुनते हैं और देखते हैं। सूर्य को लिजीये। सूर्य एक है पर जब आप और हम और सौ अन्य मनुष्य भिन्न २ स्थानों में खड़े होकर सूर्य की ओर देखते हैं तो हम में से प्रत्येक सूर्य को भिन्न रूप में देखता है। स्थान का थोड़ा सा ही अन्तर सूर्य के दृश्य को मनुष्य के लिये भिन्न बना देता है। आब हवा में थोड़ा सा हेर फेर हो जावे तो दृश्य में और भी भिन्नता आ जावेगी। इसी तरह सापेक्ष अनुभव द्वारा सत्य सदा अनेक दिखाई देता है। पर निरपेक्ष सत्य तो एक ही है। अतः जब दूसरे लोगों

का धर्म का वर्णन बिलकुल हमारी ही भावना के अनुसार ठीक नहीं दिखता तब हमें उनसे लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें स्मरण रखना चाहिये कि परस्पर विरुद्ध दिखते हुए भी हमारे और उनके दोनों के विचार सत्य हों। करोड़ो त्रिज्याएँ (radii) सूर्य के उसी एक केन्द्र की ओर जानेवाली हो सकती हैं। केन्द्र से जितनी दूरी पर दो त्रिज्याएँ होंगी उतना ही अधिक अन्तर उन दोनों में होगा परंतु जब वे सब त्रिज्याएँ केन्द्र में एक साथ मिलेंगी तब सब भेद दूर हो जावेगा। ऐसा ही एक केन्द्र है जो मनुष्यमात्र का परम ध्येय है। ईश्वर ही ऐसा केन्द्र है। हम सब त्रिज्याएँ हैं। हमारी प्राकृतिक मर्यादाएँ जिन के द्वारा ही केवल, हम ईश्वर के स्वरूप को ग्रहण कर सकते हैं वे ही इन त्रिज्याओं के बीचके अंतर हैं। इस भूमिका पर खड़े रहते हुए उस परमतत्त्व के भिन्न २ दृश्य हम में से प्रत्येक को दीख पड़ना अनिवार्य है। अत एव ये सभी दृश्य सत्य हैं और हम में से किसी को दूसरे से झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे मतभेदों के सुलझाने के लिये उस केन्द्र के निकट पहुँचाना ही एक मात्र उपाय है। बहस या लड़ाई द्वारा यदि हम अपने मतभेदों को दूर करना चाहते हैं तो हम सैकड़ों वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे। इतिहास इस बात का साक्षी है।

सुलझने का एक ही मार्ग है और वह है आगे बढ़ना और केन्द्र की ओर जाना। और जितनी जल्दी हम ऐसा करेंगे उतनीही जल्दी हमारे मतभेद दूर हो जावेंगे।

इष्ट के इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि हर किसी को अपना धर्म स्वयं चुन लेने की स्वतंत्रता है। कोई भी मनुष्य दूसरेसे जबरदस्ती अपनी ही देवता की पूजा न करावे। सभी मनुष्यों को एकही झुंडमें शामिल करने की चेष्टा करना, सभीको भेड़िया-धसान की तरह हंकालकर एक ही कोठे में बंद करने के प्रयत्न, फौजीबल, जबरदस्ती या बहस द्वारा बलात् हर एक से उसी एक देवताकी पूजा कराने के प्रयत्न भूतकाल में निष्फल हुए हैं और भविष्य में भी निष्फल होवेंगे क्योंकि प्रकृतियों की विभिन्नता के कारण ऐसा हो सकता या ऐसा कर सकना असंभव है। यही नहीं वरन् इस से मनुष्यों के विनाश होनेकी संभावना है। प्रायः विरलाही पुरुष या विरली ही स्त्री है जो किसी धर्म के पालन की खटपट में न लगी हो पर कितनों को सन्तोष मिला है याने कितने थोड़े संतुष्ट हुए हैं? कितने थोड़े लोगों को कुछ मिलता है। और ऐसा क्यों होता है? सिर्फ इसी लिये कि उनमें से बहुतेरे असंभव प्रयत्न करते हैं। वे इन मार्गों में दूसरों के आदेश से जबरदस्ती डाल दिये गये हैं। उदाहरणार्थ-मेरे बचपने में ही मेरे पिता मेरे हाथ में एक छोटी सी पुस्तक थंभा

देते हैं और कहते हैं ईश्वर इस प्रकार का है और यह ऐसा २ है। मेरे मन में इन बातों को भर देने का उन्हें क्या प्रयोजन? मेरा विकास किस तरह होगा यह उन्हें कैसे मालूम? मेरी प्रकृति की प्रगति कहां तक हुई है यह उन्हें विदित नहीं तथापि वे अपने विचारों को मेरे दिमाग में घुसाना चाहते हैं। फल यही होता है कि मेरी उन्नति मेरा मनका विकास रुक जाती है। आप किसी पौधे को उसके लिये जो जमीन उपयुक्त नहीं है उसमें नहीं बढ़ा सकते। बालक अपने आपही सीख लेता है। आप उसे उसके ही मार्ग में आगे बढ़ने लिये सहायता दे सकते हैं। आप उसके लिये जो कर सकते हैं वह साक्षात प्रकार का नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष प्रकारका याने विघ्न निवारण रूप हो आप उसके मार्ग की कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं। ज्ञान तो उसकी प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। जमीन को कुछ पोली कर दो ताकि अंकुर आसानी से ऊग सके उसके चारों ओर एक घेरा बना दो; ध्यान रखो कि कोई दूसरा उसे मार न डाले: पाला या बरफ से उसका नाश न होजावे। बस यहीं आपके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। और अधिक आप कुछ नहीं कर सकते। बाकी सब का तो उस की प्रकृति के "भीतर" से ही विकास होना है। यही बात बालक की शिक्षा के संबंध में भी है। बालक स्वयं सीख लेता है। आप मेरी बातें सुनने आये हैं। घर

जाकर आप जो यहां सीखे हैं और यहां आने के पूर्व आप के मन में जो था उन दोनों का मिलान कीजिये और तब आप को पता लगेगा कि यही बात तो आप भी सोचे थे मैंने तो केवल उस बात को ही प्रगट कर दिखाया है। मैं आप को किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो आप स्वयं ही अपने को देवेंगे। मैं तो शायद आप को अपने उस विचार के प्रगट करने में सहायता ही दे सकूं। उसी प्रकार धर्म में—उस से भी अधिक—धर्मशिक्षा में मुझे ही अपना गुरू बनाना चाहिये। मेरे सिर में तरह तरह की निरर्थक बातें भर देने का मेरे पिता को क्या अधिकार है? मेरे सिर में ऐसी बातों को भर देने का मेरे मालिक को ही क्या अधिकार है? इन बातों को मेरे दिमाग में ठूंस देने का अधिकार समाज को ही कैसे हो सकता है। संभव है ये विचार अच्छे हों पर मेरा मार्ग उनसे भिन्न हो। करोड़ों निर्बोध बालकों की अन्तरात्माओं की जो हत्या हमारे उपदेश के गलत तरीकों के कारण हो रही है, उन से जो भयंकर अनिष्ट इस संसार में हो रहा है उसका तो विचार कीजिये। कितनी ही सुंदर चीजें जो आगे चलकर अद्भुत धार्मिक सत्यता का रूप धारण करतीं उन्हें हमने वंशपरम्परागत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म इत्यादि की इन भयंकर भावनाओं द्वारा कालिका रूप में ही विनाश कर दिया है। सोचिये तो अभी

इसी क्षण में भी आप के दिमाग में कितनी मिथ्या कल्पनाएँ आप के बाल्यकाल के धर्म या अपने देश के धर्म के नाम से भरी हुई हैं और उनसे कितना अनिष्ट हो रहा है या हो सकता है। मनुष्य यह नहीं जानता कि उस से कितना अनिष्ट हो सकता है। और यह अच्छा ही है कि वह इसे नहीं जान सकता। अन्य था यदि वह इस बात को एक बार जान ले तो वह आत्महत्या कर बैठेगा। प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे कितनी प्रबल प्रसुप्तशक्ति है उसे वह नहीं जानता। "जहां देवताओं को कदम रखने में डर लगता है वहां मूर्ख लोग दौड़ पड़ते हैं" यह उक्ति बहुत सी सच है। इस बात पर प्रारंभ से ही ध्यान रखना चाहिये। और वह किस तरह? इष्ट में विश्वास के द्वारा।

आदर्श तो इतने बहुत से हैं। मुझे कोई अधिकार नहीं कि आपका आदर्श क्या हो यह आपको बताऊं, आपके गले जबरदस्ती कोई आदर्श मढ़ दूं और आप अपनी प्रकृति के अनुसार सब से अधिक किस आदर्श को पसन्द करते हैं इस बात के निर्णय करने में आपको सहायता दूं। जो आदर्श आपको सब से अधिक अनुकूल हो उसे ही आप ग्रहण करें और उसी में अनवरत प्रयत्न करें। वही आपका "इष्ट" है वही आपका विशेष आदर्श है। इस तरह हम देखते हैं कि सामूहिक धर्म कभी नहीं

हो सकता। धर्म का यथार्थ कार्य तो स्वयं अपने ही चिन्तन का अपने ही निश्चय करनेका विषय है। मेरी अपनी एक भावना है। प्रथम तो मुझे उसको पवित्र और गुप्त रखना चाहिये क्योंकि मैं जानता हूं कि वही भावना आप की भी हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात यह है कि हर किसीको मैं अपनी भावना के संबंध में बताकर अशांति क्यों फैलाऊँ? दूसरे लोग आकर मुझ से लड़ेंगे। यदि मैं उन्हें अपने विचार न बताऊँ तो वे मुझ से नहीं लड़ सकते। पर यदि मैं अपने विचार उन्हें बतलाता फिरूं तो वे अवश्य मेरा विरोध करेंगे। अतः अपने विचारों को बतलाते फिरने का क्या उपयोग? इस इष्ट को तो गुप्त ही रखना चाहिये क्यों कि यह तो आपके और ईश्वर के और ईश्वर के बीच की बात है। धर्म के सिद्धान्त संबंधी अंशों का उपदेश आम तौर से जनता में दिया जा सकता है और सामुदायिक भी बनाया जा सकता है पर उच्चतर धर्म सार्वजनिक रीति से प्रगट नहीं किया जा सकता पांच मिनिट की सूचना पाते ही मैं अपने धार्मिक भाव तयार नहीं कर सकता। इस पाखण्ड और नकल का परिणाम क्या होता है? यहतो धर्म की हंसी उड़ाना है, घोर अधर्म है। फल वही होता है जो आप आज कल के गिर्जाघरों में देखते हैं। इस धार्मिक कवायत में मनुष्य कैसे टिक सकते हैं? यह तो फौजी छावनी के सिपाहियों

का सा कार्य हुआ। हाथ उठाओ, घुटना टेको, किताब लो सब कुछ एक साथ हुक्म के मुताबिक हो। दो मिनिट भक्ति, दो मिनिट ज्ञान चर्चा, दो मिनिट प्रार्थना सब पूर्व निश्चित क्रम से हों। ये भयानक बातें हैं। शुरू से ही इन बातोंसे बचना चाहिये। धर्म के नाम से यह जो दिल्लगी हो रही है उसने असली धर्म को दूर भगा दिया है और यदि इसी प्रकार कुछ शताब्दियों तक और चला तो धर्म का पूरा लोप हो जावेगा। चर्चा में सिद्धान्त तत्वज्ञान इत्यादि का मन माना उपदेश हुआ करे पर जब धर्म के यथार्थ व्यवहारिक अंश के पालन का समय आवे तब तो वैसे ही करना चाहिये जैसे ईसामसीहने कहा है "जब तुम प्रार्थना करो तब अपने कमरे के अंदर चले जाओ और दरवाजा बंद करलो और तब अपने परम पिता परमात्मा से गुप्त में प्रार्थना करो"।

अतः इस इष्ट के सिद्धांत का आप जैसे २ विचार करेंगे वैसे २ पता लगेगा कि भिन्न २ प्रकृतियों की आवश्यकता के अनुसार धर्म को व्यवहारिक बनाने का, दूसरों के साथ के झगडों के मौकों को टालने का और धार्मिक जीवन में यथार्थ व्यवहारिक प्रगति करने का यही एक मार्ग है। पर मैं आप को एक बात की चेतावनी देता हूं कि मेरी बातों का कहीं अनर्थ मत कर बैठिये। मेरा कहना यह नहीं है कि आप गुप्त सभाएँ स्थापित

कर लेवें। यदि शैतान कहीं हो सकता है तो मैं उसकी तलाश तो किसी गुप्त सभा के कमरे के अन्दर ही करूंगा शैतान तो इन गुप्त सभाओं का विशेष आविष्कार है। गुप्त सभाएँ स्थापित करना शैतानी की कारवाई है। और यह इष्ट की भावना तो पवित्र है गुप्त रखने की दूषित बात नहीं है।

आप को अपने इष्ट के विषय में दूसरों से क्यों नहीं बोलना चाहिये? कारण यही है कि वह आप की निजी पवित्र वस्तु है। उससे दूसरों को सहायता शायद मिल जाय पर यह आप को कैसे मालूम कि सहायता के बदले कहीं उन्हें उससे आघात नहीं होगा? संभव है कि कोई मनुष्य ऐसी प्रकृति का हो कि वह साकार ईश्वर की पूजा या उपासना नहीं कर सकता। वह केवल निराकार ईश्वर–अपने निज उच्चतम आत्मा–की ही उपासना कर सकता है। मान लीजिये कि मैं उसे आप लोगों के बीच ले आया और वह आप लोगों को बताने लगा कि कोई साकार ईश्वर नहीं है वरन् आप में और मुझ में जो आत्मा है वही ईश्वर है। इसे सुनकर तो आप को बड़ा आघात पहुँचेगा। उस के विचार तो परम पवित्र हैं पर गुप्त नहीं है। ऐसा कोई बड़ा धर्म या आचार्य नहीं हुआ जिसने ईश्वर विषयक सत्यताओं का उपदेश देने के लिये गुप्त सभाएँ स्थापित की हों।

हिंदुस्थान में ऐसी कोई गुप्तसभाएँ नहीं हैं। ये तो पाश्चात्यों की कल्पनाएँ हैं जो वे हिंदुस्थानपर लादना चाहते हैं। हम तो ऐसी बातें कभी जानते तक नहीं थे। और हिंदुस्थान में गुप्त सभाएँ होवें भी किस लिये? यूरोप में तो मनुष्यों को जो धर्म चर्च के मत के अनुसार न हो ऐसे धर्म के विषय में एक शब्द तक उच्चारण करने की स्वतंत्रता नहीं थी। इसी कारण इन बेचारों को पर्वतों में जाकर छिपकर गुप्तसभाएँ बनाने के सिवाय चारा ही न था। ऐसा किये बिना ये लोग अपने मन के अनुसार उपासना ही नहीं कर सकते थे। हिंदुस्थान में ऐसा जमाना कभी नहीं था कि दूसरों से भिन्न मत रखने के कारण किसी मनुष्य पर अत्याचार हुआ हो। गुप्त धार्मिक सभाओं की स्थापना से बढ़कर भयानक कुकृत्य कल्पना में नहीं आसकता। मैंने काफी दुनियां देख ली है और मैं जानता हूं कि इन गुप्त सभाओं से कैसे २ अनिष्ट हुआ करते हैं और कितनी आसानी से ये सभाएँ फिसल कर प्रेमी प्रेमिकाओं की सभा या भूतसभा का रूप धारण कर लेती हैं,। इन में मनुष्य दूसरे पुरुष या स्त्रियों के चंगुल में पड़कर कैसे नाचते हैं और विचार क्षेत्र में या कार्य क्षेत्र में उन की भावी उन्नति की जितनी भी आशायें होती हैं वे सब किस तरह धूल में मिल जाती हैं इत्यादि इत्यादि इन गुप्त सभाओं से

होने वाले अनिष्टों को मैं जानता हूं। मेरी इन वातों से आप में से कुछ लोगों को रंज होता होगा पर सच वात मुझे कहना ही चाहिये। मेरे जीवन भर में शायद आधे दर्जन पुरुष और स्त्री ही मेरा अनुकरण करेंगे : पर ये लोग सच्चे पुरुष और स्त्री हों, पवित्र और नेकनियत हों; मुझे झुण्ड के झुण्ड अनुयायी नहीं चाहिये। झुण्डों से क्या लाभ? संसार का इतिहास कुछ थोड़े दर्जन मनुष्यों ने ही निर्माण किया। ऐसे मनुष्यों की गणना अंगुलियों पर की जा सकती है। वाकी लोग तो निकम्मे शोरगुल मचाने वाले ही थे। इन सव गुप्त सभाओं से और उपद्रवी चीजों से पुरुष और स्त्री अपवित्र, दुर्वल और संकुचित वन जाते हैं। दुर्वलों की कोई इच्छा शक्ति नहीं रहती और वे कभी काम नहीं कर सकते। अतः ऐसी चीजों से कोई वास्ता ही न रखो ये सव गुप्त रूप में विषय वासनाएँ या मिथ्या रहस्य प्रेम ही तो हैं और ये तो जव प्रथम वार ही आप के मन में प्रवेश करें तभी इन के सिर पर ठोकर मारकर इन्हें नष्ट कर देना चाहिये क्योंकि मनुष्य किंचित् भी अपवित्रता के रहते धार्मिक नहीं वन सकता। पीव भरे घावों को गुलाव के फूलों के समूह से ढांकने का प्रयत्न मत करो। क्या आप समझते हैं कि आप ईश्वर को ठग सकते हैं? ईश्वर को कोई ठग नहीं सकता। मुझे कोई सीधी राह चलनेवाला

प्रामाणिक पुरुष या स्त्री दो; और हे भगवन्! मुझे इन भूतों, उड़नेवाले देवदूतों और शैतानों से बचाओ। सीधे सादे साधारण मनुष्य बनो।

हम में एक सहज संस्कार है यह और प्राणियों की तरह ही हम में है-जिस के कारण बिना जाने ही, बिना इच्छा किये ही हम यन्त्रवत् अंगों का संचालन किया करते हैं। तत्पश्चात् हम में कार्यों की ओर प्रेरणा करने वाली उच्चतम वस्तु है जिसे हम तर्कशक्ति कहते हैं, जिसके द्वारा बुद्धि अनेक बातों को ग्रहण करके उन पर से कोई निष्कर्ष निकालती है। उससे भी उच्चतर रूप का एक और बाने ज्ञान है जिसे हम ( In Spiration ) स्फूर्ति ( प्रतिभा ) दिव्य दृष्टि या दिव्य ज्ञान कहते हैं जो तर्क नहीं करता और एक दमक या लपक ( Flash ) में ही चीजों को जान जाता है। वही परमोच्च ज्ञान है। पर उसमें और नैसर्गिक स्वभाव में अंतर किस तरह समझोगे यही बड़ा कठिन है। आजकल कोई भी मूर्ख आकर आप से कहने लगता है कि मुझे दिव्य ज्ञान हुआ है। वह कहता है " मुझे दिव्य ज्ञान है अतः मेरे लिये एक मन्दिर बनवा दो, मेरे पास झुंड के झुंड आओ और मेरी पूजा करो।" दिव्यज्ञान और धोखे बाजी को कैसे पहिचानें ?

प्रथमतः दिव्यज्ञान तो बुद्धि या तर्क के विपरीत नहीं होना चाहिये। वृद्ध मनुष्य बालक के विपरीत नहीं हुआ

करता। वह तो बालक का ही विकसित प्रौढ़ या उन्नत रूप होता है। जिसे हम दिव्यस्फूर्ति या दिव्यज्ञान कहा करते हैं वह तर्क ( बुद्धि ) का ही प्रौढ़ या उन्नत रूप है। दिव्यज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तो बुद्धि या तर्क के ही द्वारा है। दिव्यज्ञान बुद्धि (या तर्क) के विपरीत नहीं होना चाहिये जहां वह ऐसा हो तो उसे दूर कर दो। हमारे अंगों का जो संचालन बिना जाने हुआ करता है वह बुद्धि के विपरीत नहीं रहता। सड़क की एक बाजू से दूसरी बाजू जाते समय गाड़ियों के धक्के से बचने के लिये तुम किस तरह स्वभाव से ही कार्य करते हो! क्या तुह्मारा मन कहता है कि अपने शरीर को उस तरह बचाना मूर्खता का काम था? कभी नहीं कहता। यथार्थ दिव्यज्ञान तो कदापि बुद्धि या तर्क का विरोधी नहीं होगा। जहां ऐसा हो तो वह सब भ्रमजाल है। द्वितीयतः ऐसा दिव्यज्ञान हर किसी की भलाई के लिये होना चाहिये न कि नाम या कीर्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये। वह तो सदा संसार की भलाई के लिये होगा और सदा पूर्ण तया निःस्वार्थ ही होगा जब इन कसोटियों में वह दिव्यज्ञान ठीक उतरे तब उसे दिव्यज्ञान मानने में कोई हानि नहीं है। संसार की इस वर्तमान परिस्थिति में लाख में एक भी दिव्यज्ञानी या दिव्यदर्शी नहीं है यह स्मरण रक्खो। आज ऐसे बहुत कम हैं पर

मैं आशा करता हूं कि अब बहुत से हो जावेंगे और आप में से प्रत्येक वैसा बन जावेगा। हम ने तो अभी धर्म की केवल खिलवाड़ मचा रक्खी है। दिव्यज्ञान आते ही हमें धर्म प्राप्त होना आरंभ हो जावेगा। जैसे सेंट पॉल ने कहा है "कारण कि अभी तो हमें मानों कांच के भीतर से धुंधला दिखाई दे रहा है पर तब तो आंखों से प्रत्यक्ष देखेंगे"। पर संसार की वर्तमान अवस्था में ऐसे लोग इने गिने ही हैं जो उस पद को पहुँच चुके हैं। तिसपरभी संभवतः आज के समान किसी और जमानेमें दिव्यज्ञानका झूठा दावा इतना अधिक नहीं हुवा करताथा। ऐसा कहाजाता है कि स्त्रियोंको नैसर्गिक शक्तियां रहती हैं और पुरुष बुद्धि या तर्क द्वारा धीरे २ जबरदस्ती अपने को ऊपर खींच लाते हैं। इन कोरी बातों में विश्वास मत करो क्योंकि दिव्य ज्ञान वाले पुरुषों की उतनीही संख्या है जितनी स्त्रियों की। हां, स्त्रियां संभवतः तरह तरह के प्रलाप, मूर्छा या स्नायुरोग का अधिक दावा कर सकती हैं। धोखेबाजों और जादूगारों की शिकार बनने की अपेक्षा तो नास्तिकता में जीवन बिताना कहीं अच्छा है। तर्क शक्ति तुम्हें उपयोग करने के लिये दी गई है। तब तुमने उसका उचित उपयोग किया यह दिखादो। ऐसा करने से ही तुम उच्चतर वस्तु ओं को संभाल सको गे। हमें यह सदा

स्मरण रखना चाहिये कि "ईश्वर प्रेम स्वरूप" है। "गंगा किनारे बस कर जो पानी का छोटा सा कुंआ खोदता है वह मूर्ख नहीं तो और क्या है? हीरे की खानि के समीप रहते हुए जो कांच की गोलियां ढूढ़ने में ही सारी जिन्दगी व्यतीत करता है वह सचमुच मूर्ख ही है"। ईश्वर तो हीरों की खानि हैं। हम सचमुच में मूर्ख हैं जो भूत प्रेतों की उड़ने वाली योनियों को और उसी तरह निरर्थक गपोड़े किस्सों के लिये ईश्वर का परित्याग करते हैं। इन भयानक जंतुओं के घोर भय में सतत जीवन व्यतीत करनेके कारण और अद्भुत वार्ता की क्षुधा उत्तेजित रहने के कारण स्नायुयों में और दिमाग में कमजोरी आजाती है और मानवजाति का अधः पतन होता है। ये सब उद्भ्रान्त कथाएँ स्नायुओं को अप्राकृतिक रूपसे अत्यधिक दबाव पहुँचाती हैं और धीरे २ पर निश्चित रूपसे इन विषयों से प्रेम रखने वाली जाति को हीनवीर्य बना देती हैं। सोचिये तो सही! कहां तो ईश्वर, शुद्धता, पवित्रता और धार्मिकता का परित्याग करना और कहां इन निरर्थक मूर्खता भरी बातों के पीछे दौड़ना!! कैसी भयावह बात है? दूसरों के मन के विचारों का आकलन करना! यदि मैं लगातार पांच मिनट भी सभी दूसरों के विचारों को आकलन करूं तो मैं पागल हो जाऊंगा। अतः शक्तिशाली बनो, उठो और

प्रेम स्वरूपी ईश्वर की खोज करो। यही सर्वोच्च बल है। पवित्रता की शक्ति से बढ़कर कौन सी शक्ति हो सकती है? प्रेम और पवित्रता ये ही दुनियां के शासक हैं ईश्वर का यह प्रेम शक्तिहीनों द्वाराप्राप्य वस्तु नहीं है। अतः निर्बल ( शक्तिहीन ) मत बनो शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक–कोई भी कमजोरी न रहने पावे। अकेला ईश्वर ही सत्य है। और अन्य सभी चीजें असत्य हैं। ईश्वर के लिये अन्य सभी वस्तुओं का त्याग करना चाहिये।

"ईश्वर पर प्रेम करना और एक उसी ईश्वर की ही सेवा करना। इसे छोड़ और सब मिथ्या हैं व्यर्थ हैं महान ढोंग हैं।"

सप्तमोध्याय।

# पूर्वभक्ति और परा भक्ति।*

कुछ थोड़े से ही धर्मों को छोड़ प्रायः हर एक धर्म में साकार ईश्वर की कल्पना पाई जाती है। बौद्ध और जैन धर्म को छोड़ शायद सभी धर्मों में साकार ईश्वर की कल्पना है और उसी के साथ भक्ति और पूजा की भी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म में साकार ईश्वर की उपासना नहीं की जाती तथापि वे लोग अपने धर्मों के प्रवर्तकों को ही लेकर उनकी पूजा ठीक उसी तरह करते हैं जैसे अन्य धर्मों में साकार ईश्वर की पूजा की जाती है। जिस व्यक्ति पर प्रेम करना होता है और जो व्यक्ति उस के उत्तर में उस मनुष्य पर भी प्रेम कर सकता है ऐसे व्यक्ति की भक्ति और पूजा की कल्पना सर्वत्र पाई जाती है। प्रेम और भक्ति की यह कल्पना भिन्न २ धर्मों में भिन्न २ मात्रा में और भिन्न २ श्रेणियों में पाई जाती है। बाहरी अनुष्ठान की श्रेणी सब से निकृष्ट श्रेणी है जहां कि मनुष्य के लिये

* मैडिसन स्केयर कनसर्ट हॉल न्यूयॉर्क में ता. ९ फरवरी १८९६ को दिया हुआ भाषण।

सूक्ष्म विचारों का होना प्रायः असंभव है अतः वहां वह इन सब को स्थूल रूप में ही परिणत कर देना चाहता है। इसी अवस्था में कई प्रकार के आकार और उन्हीं के साथ भिन्न २ मूर्तियों का उद्भव होता है। संसार भर के इतिहास में हम यही पाते हैं कि मनुष्य भावात्मक आकारों या मूर्तियों द्वारा सूक्ष्म को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहा है और धर्म के सभी वाह्य उपकरण घंटी, संगीत, अनुष्ठान पुस्तकों और मूर्तियों का समावेश इसी के भीतर होता है। जो भी वस्तुएँ इंद्रियों को रुचती हैं और जिनके द्वारा सूक्ष्म को स्थूल रूप देने में मनुष्य को सहायता मिलती है उन सभी वस्तुओं का आश्रय पूजा या उपासना के लिये ग्रहण किया जाता है।

समय २ पर प्रत्येक धर्म में ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए हैं जो सभी मूर्तियों और अनुष्ठानों का विरोध करते आये हैं पर उनके प्रयत्न निष्फल रहे हैं कारण कि हम देखते हैं कि जबतक मनुष्य जैसा है वैसा रहेगा तब तक मानव जाति के अधिकांश को किसी ऐसे स्थूल वस्तु के अवलंबन की जरूरत होगी जिस वस्तु के मानों चारों ओर वे अपनी भावनाओं को स्थापित कर सकें: ऐसी वस्तु जो मन के सभी भावनात्मक आकारों का केन्द्र हो सके। मुसलमानों ने और क्रिस्तानों में प्रोटेस्टेंट लोगों ने तो इस एक उद्देश से बड़े २ प्रयत्न किये हैं कि सब अनुष्ठान

न्द्रियाएँ बंद हो जाँय, पर तौ भी उन में भी अनुष्ठान प्रवेश कर गया है। ये अनुष्ठान हटाये नहीं जा सकते। दीर्घ काल के प्रयत्न के पश्चात् सर्व साधारण जनता में केवल इतना ही परिवर्तन हुआ करता है कि अनुष्ठान का स्वरूप एक की जगह दूसरा हो जाता है। मुसलमान लोग मुसलमानेतरों के प्रत्येक अनुष्ठान, आकार, प्रतिमा या विधि को पापात्मक मानते हैं पर जब वे स्वयं अपने मन्दिर "काबा" में जाते हैं तब वे अपने इन विचारों को अलग कर देते हैं। प्रत्येक धार्मिक मुसलमान को नमाज़ पढ़ते समय अपने को काबा के मन्दिर में खड़ा हुआ समझना पड़ता है और जब वह काबा की यात्रा करता है तब वहां दीवाल में जो काला पत्थर है उसका उसे चुम्बन करना पड़ता है। और कयामत के दिन लाखों और करोड़ों यात्रियों के इस पत्थर पर के ये चुंबनचिन्ह इन धार्मिक (ईमान वाले) व्यक्तियों के कल्याण के लिये साक्षी का रूप धारण कर के उपस्थित होंगे। तत्पश्चात् जिमजिम कूप है। मुसलमानों का विश्वास है कि जो इस कूप का थोड़ा सा भी जल निकालता है उसके पापों की क्षमा कर दी जाती है, उसे नया शरीर मिलता है और पुनरूत्थान के पश्चात् वह सदा जीवित रहता है।

दूसरों में हम देखते हैं कि यह साकारोपासना इमारतों का रूप धारण करती है। प्रोटेस्टंट समझते हैं

कि उनके गिर्जाघर अन्य स्थानों से अधिक पवित्र हैं। उनका यह गिर्जाघर ही-जैसा है-मूर्ति के स्थान में है। तत्पश्चात् उन का धर्मग्रंथ भी है। अपने इस धर्मग्रंथ के प्रति उनकी भावना और अन्य आकृतियों की अपेक्षा इसे अधिक पवित्र मानने की है। प्रोटेस्टेंट लोगों में क्रॉस के चिन्ह या मूर्ति को वही स्थान प्राप्त है जो कैथॅलिक लोगों के यहां सेण्ट्स् लोगों की मूर्तियों को है। अतः मूर्तियों के उपयोगके विरुद्ध उपदेश करना निरर्थक है। और हम मूर्तियों के विरुद्ध प्रचार करें ही क्यों? संसार में मनुष्यों के सामने जो आकार या प्रतिमाएँ हैं उन आकारों के पीछे जो वस्तु या तत्त्व है उस तत्त्व के प्रतिनिधी रूप में वे उन आकारों का उपयोग न करें इसमें तो कोई युक्ति संगत बात नहीं दिखाई देती। यह सृष्टि भी तो एक मूर्ति ही है जिसमें और जिस के जरिये हम जिसकी वह मूर्ति है उस वस्तु को-जो वस्तुसृष्टि के पीछे है और उस से परे है-उस वस्तु को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मानव प्रकृति की निचली श्रेणी में इस की आवश्यकता रहती है और अतः हम इसे बनाये रखने के लिये बाध्य हैं कि हमारी सब खटपट इसलिये है कि मूर्तियां जिस वस्तुकी द्योतक है उस वस्तुको ही हम प्राप्त करें; भौतिकताके परे जाकर आध्यात्मिकता का लाभ करें।

हमारा ध्येय तो आत्मवस्तु है, न कि सांसारिक या भौतिक पदार्थ। आकार, मूर्तियां, घंटियां, दीपक, पुस्तकें गिर्जाघर, मंदिर और अन्य सब पवित्र निशानात या चिन्ह बहुत अच्छे हैं; ये सब आध्यात्मिकता के बढ़ते हुए पौधे के लिये सहायक होते हैं परंतु केवल एक हद तक ही और उसके आगे नहीं। अधिकांश तो हम यही पाते हैं कि पौधा बढ़ता ही नहीं। किसी धर्म-संप्रदाय में जन्म लेना तो अत्युत्तम है परन्तु उस में मर जाना बहुत खराब है। जहां किसी प्रकार की नियत पूजाविधियों द्वारा आध्यात्मिकता के छोटे पौधे को सहायता मिलती है ऐसे सम्प्रदाय की मर्यादा के भीतर जन्म लेना तो बहुत अच्छा है परंतु यदि मनुष्य इन विधियों के बंधन के भीतर रहते ही मर जावे तो पौधे की वृद्धि नहीं हुई, आत्माका विकास नहीं हुआ इस बातका वह निश्चित प्रमाण है।

अतः यदि कोई कहे कि चिन्ह, अनुष्ठान, विधियां सदा रखने की चीजें हैं तो उसका कहना गलत है। पर यदि यह कहा जावे कि इन चिन्हों और अनुष्ठानों द्वारा विकास की निम्न श्रेणियों में सहायता मिलती है तो यह उक्ति यथार्थ है। हां-आत्मोन्नति का अर्थ कोई बुद्धि का विकास मानने की भूल न करे। किसी मनुष्य की बुद्धि कितनी भी विशाल क्यों न हो पर आध्यात्मिक क्षेत्र में वह संभवतः बालक या उससे भी गया बीता ही हो। इसी क्षण आप

उसकी परीक्षा कर सकते हैं। आप में से कितने कम लोगों को सर्व व्यापित्व की कल्पना है यद्यपि आप लोगों को सर्वव्यापी ईश्वर में बौद्धिक विश्वास करने के लिये सिखाया गया है! यदि आप बहुत प्रबल प्रयत्न करेंगे तो इस सर्व व्यापिता के भावके लिये खींचतान कर आकाश की या हरे भरे विस्तृत मैदान की, या यदि आपने देखा होगा तो, समुद्र की या मरुस्थल की कल्पना करेंगे ये सब भौतिक मूर्तियां हैं और जब तक आप सूक्ष्म को सूक्ष्म की ही, आदर्श को आदर्श की ही तरह मन में नहीं ग्रहण कर सकते तब तक इन आकारों के मार्ग से इन भौतिक मूर्तियों के द्वारा ही चलना होगा—चाहे दिमाग के भीतर हो या बाहर हो—उस से कोई अंतर नहीं पड़ता। आप सब जन्म से ही मूर्ति पूजक हैं और मूर्ति-पूजा अच्छी चीज है क्योंकि वह मानव प्रकृति की बनावट ही के अन्तर्गत है। उस के परे जा कौन सकता है? केवल सिद्ध पुरुष (महात्मा) और ईश्वरी अवतार ही उस के परे जा सकते हैं। बाकी सब लोग तो मूर्ति पूजक ही हैं। जब तक आप अपने सामने अनेक रूप और अनेक आकृतियों सहित इस संसार को देख रहे हैं तब तक आप सभी मूर्ति-पूजक हैं। दिमाग में स्थूल मूर्तियां नहीं समाती; वहां तो किसी स्थान में केवल थोड़ा सा स्फुरण (Sensation) ही हुआ करता है। पर

तब भी आप इस संसार की-अनेक रंग-रूप और आकार समेत-इस महान् चिन्ह रूप संसार की-मूर्ति किस तरह अपने सामने ले आते हैं? क्या यह संसार जिसकी आप उपासना कर रहे हैं वह एक विशालकाय मूर्ति नहीं है? जो कहता है मैं शरीर हूं वह जन्मतः ही मूर्तिपूजक है। आप सब तो आत्मा हैं आत्मा,-जिसका न रूप है न रेखा अनन्त आत्मा हैं भौतिक पदार्थ नहीं। अतः जो कोई अपने को शरीर जड़ पदार्थ समझता है, सूक्ष्म का ग्रहण नहीं कर सकता, वह अपने को भौतिक पदार्थ में और उस के जरिये को छोड़कर अन्यथा-जैसा है वैसा नहीं जान सकता, वह मूर्तिपूजक है। तीस पर भी ये लोग एक दूसरे को मूर्तिपूजक (या बुत परस्त) कह कर आपस में किस तरह लड़ा करते हैं? याने हर कोई अपनी ही उपास्य मूर्ति को सच बताता है और दूसरों की उपास्यमूर्ति को झूट कहता है।

अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में जो बच्चों के समान हैं उन के मूर्खतापूर्ण विचारों को हमें दूर कर देना चाहिये। हमें इन मनुष्यों के व्यर्थ बकवाद के ऊपर उठना चाहिये। ऐसे मनुष्य तो कुछ निःसार शाब्दिक विवादों को धर्म मानते हैं या एक विशेष प्रकार के सिद्धांत वाक्यों को ही धर्म जानते हैं। उन के लिये धर्म का मतलब कुछ बौद्धिक सम्मति या असम्मति हुआ करता

है। उनके पुरोहित जो कुछ शब्द कह दिया करते हैं उनमें विश्वास करना ही उनका धर्म होता है। जिस बात में उनके पूर्वज विश्वास करते चले आये वही धर्म है। कुछ काल्पनिक विचार और अंध विश्वास की बातों को ही वे धर्म जानते हैं। इन बातों में वे इसी लिये चिपके हुए हैं कि उनकी जाति में और सम्प्रदाय में ये परमात्मा से चले आये हैं। हमें इन सब अवस्थाओं से ऊँचे उठना चाहिये और समस्त मानवसृष्टिको प्रकाश (ज्योति) की ओर क्रमशः अग्रसर होते हुए एक महान शरीरी (orgemism) की तरह देखना चाहिये या ऐसा जानना चाहिये कि यह मानव-समुदाय एक अद्‌भुत पौधा है जो क्रमशः ईश्वर नामक उस अद्‌भुत सत्य की ओर अपना क्रमिक विकास कर रहा है। और उस सत्य की ओर उसका प्रथम अंकुर प्रथम गति जड़ पदार्थ के ही भीतर से अनुष्ठान के मार्ग से ही सदा होना चाहिये। इसमें हमारा कोई वश नहीं।

इन सब अनुष्ठानों के अन्तर्गत एक मुख्य तत्व है जो अन्य सब बातों से श्रेष्ट है। वह है ईश्वर के किसी नामकी उपासना। आप में से जिन्हों ने ईसाई धर्म की पुरानी विधियों का अभ्यास किया होगा, जिन्हों ने संसार के भिन्न२ धर्मों का अध्ययन किया होगा उनका संभवतः इस बात पर ध्यान गया होगा कि उन सब में ईश्वर के नाम की उपासना का विधान है। वे सब उस नाम को अत्यंत पवित्र बताते हैं।

हिन्दू लोगों में-आप लोगों ने पढ़ा है-ईश्वर के पवित्र नाम को यहां तक पवित्र मानते थे कि साधारण मनुष्य द्वारा या साधारण प्रसंगों पर उस नाम का उच्चारण नहीं किया जा सकता था। उस नाम में अनुपम पवित्रता थी। वह नाम सब से अधिक पवित्र था। सब नामों से अधिक पवित्र वह नाम था। और वे सभी इस नाम को ही ईश्वर समझते थे। और यह बात सत्य भी है: कारण कि नाम और रूप के सिवाय यह सृष्टि है ही क्या? क्या आप बिना शब्दों के विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं किये जा सकते। यदि आप में से कोई इन दोनों को अलग कर सकते हैं तो प्रयत्न कीजिये। जब कभी आप विचार करते हैं तो शब्दों के रूप द्वारा ही विचार करते हैं। शब्द भीतरी अंश है और विचार वाह्य अंश है। और ये दोनों नित्य एकत्र रहते हैं, अलग नहीं हो सकते। एक दूसरे को लाता है विचार शब्द को लाता है और शब्द विचार को लाता है। इसी प्रकार यह समस्त संसार मानो वाह्यरूप है और इसके पीछे ईश्वर का वह महान नाम प्रतिष्ठित है। प्रत्येक शरीर एक रूप है और उस शरीर के पीछे उसका एक नाम भी है। अपने मित्र के विषय में ज्योंही आप विचार करते हैं आपके सामने उसके शरीर की कल्पना आती है और उसके साथ उसके नाम की कल्पना भी लगी हुई जुड़ी हुई। होती

है। यही तो मनुष्य की प्रकृति है। कहने का मतलब मानस शास्त्र के अनुसार यह है कि मनुष्यके मानसिक क्षेत्र में रूप की कल्पना के बिना नाम की कल्पना और नाम की कल्पना के बिना रूप की कल्पना ठहर सके ऐसा कभी नहीं हो सकता। ये विभिन्न नहीं किये जा सकते। ये दोनों उसी तरंग के भीतरी और बाहरी पहलू हैं। इसी कारण संसार में सर्वत्र नाम को इतना उच्च मानते हैं और सर्वत्र नाम उपासना की जाती है। जानकर या अनजान में नाम की यह महिमा मनुष्य के हाथ लगी।

पुनः हम देखते हैं कि बहुत से धर्मों में पवित्र महा पुरुषों की पूजा होती है। वे कृष्ण की पूजा करते हैं, बुध्द की पूजा करते हैं, ईसा की पूजा करते हैं इत्यादि २। फिर साधुओं की पूजा होती है। समस्त संसार में सैंकड़ों साधुओं की पूजा होती है। और इनकी पूजा क्यों न हो? प्रकाश का स्फुरण तो सर्वत्र है। उल्लू अंधःकार में देखता है। इस से यह सिद्ध होता है कि अंधःकार में भी प्रकाश है। पर मनुष्य को दिखाई नहीं देता। पर मनुष्य के लिये उस स्फुरण या स्पन्दन को ग्रहण करना तभी संभव होता है जब वह आख की ज्ञान तन्तुओं में प्रभाव पैदा करने लायक हद्द तक उग्र हो जाता है। जैसे कि दीपक में, सूर्य में, या चंद्र

में, हुआ करता है। ईश्वर सर्व व्यापी है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर अपने को व्यक्त करता है पर मनुष्य के लिये तो वह ( ईश्वर ) मनुष्य में ही दिख सकता है और पहिचाना जा सकता है। जब उस (ईश्वर) का प्रकाश, उसकी व्यापकता, उसकी आत्मा मनुष्य के दिव्य चेहरे के भीतर चमकती है तभी और केवल तभी मनुष्य उसे ( ईश्वर को ) समझ पाते हैं। इस प्रकार मनुष्य सदाकाल ईश्वर की पूजा मनुष्यों के जरिये ही करता आया है और जब तक वह स्वयं मनुष्य बना रहेगा तब तक इसी तरह उस ( ईश्वर ) की पूजा करता रहेगा। वह चाहे इस के विरुद्ध चिल्लावे, खटपट करे, पर ज्योंही वह ईश्वर के साक्षात्कार का प्रयत्न करेगा त्योंही उसे दिखेगा कि ईश्वर को मनुष्य ही समझना उस की प्रकृति के लिये आवश्यक है। इस तरह हम देखते हैं कि ईश्वर की पूजा में तीन बातें मुख्य हैं–जैसा कि प्रायः प्रत्येक धर्म में हुआ करता है–प्रतिमा या रूप नाम और अवतार। सभी धर्मों में ये बातें किसी न किसी रूप में पाई जाती हैं पर तो भी तुम देखोगे कि वे आपस में लड़ना चाहते हैं। एक कहता है "संसार में मेरा भगवन्नाम ही–एक–सत्य नाम है; मेरा भगवद्रूप ही अकेला सच्चा स्वरूप है; मैं मानता हूं वही ईश्वर–अवतार सच्चे अवतार हैं और तुम्हारे सब मिथ्या है।" आजकल क्रिस्तान पादरी लोग कुछ

दयालु हो गये हैं क्यों कि वे कहने लगे हैं कि पुराने धर्म भविष्य में आने वाले इन के खुद के धर्म के पूर्व आभासमात्र थे और यह उनका धर्म ही सच्चा धर्म है। पुराने जमाने में तब तक ईश्वर ने स्वयं अपनी परीक्षा ली और भिन्न २ रूपों द्वारा अपनी शक्तियों की जांच की जब तक कि वे बाद में क्रिस्तानी धर्म में अपने को पूर्ण तया प्रगट करने में सफल न हो सके। यह स्थिति पुराने विचारों से कम से कम एक कदम आगे की ओर तो है। पचास वर्ष पूर्व उन्होंने इतना भी न कहा होता। तब तो अपने धर्म को छोड़ बाकी किसी चीज़ को वे मानते ही न थे। उनका अपना धर्म ही सर्वस्व था। यह विचार केवल एक धर्मवालों का एक राष्ट्र का, या अमुक मानसिक प्रवृति वाले मनुष्यों के किसी एक समूह का ही हो ऐसा नहीं है। लोग सदा यही सोचते हैं कि वे जो करते हैं वही एक करने की चीज है—और यहीं पर हमें भिन्न २ धर्मों के अध्ययन से हमें स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे ही विचार दूसरों में भी सैंकडों वर्ष पूर्व ही विद्यमान थे और कभी २ तो हमारी अपेक्षा उनके द्वारा वे विचार अधिक अच्छे प्रकार से व्यक्त किये गये थे।

ये भक्ति के बाहरी अनुष्ठान हैं जिन के मार्ग से मनुष्य को जाना पड़ता है। पर यदि वह सच्चा है और यथार्थ में सत्य वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तब वह इन से

उच्चतर भूमिका में पहुँचता है जहां कि ये अनुष्ठान कोई चीज़ नहीं हैं। मंदिर या गिर्जाघर, पुस्तकें या अनुष्ठान, ये सब धर्म की बाल शिक्षाएँ हैं जो उस धर्मक्षेत्र के बालक को उच्चतर भूमिका में कदम रखने लायक शक्तिमान् बनाती हैं। और यदि धर्म की उसे आकांक्षा है तो उस के लिये ये पहिले कदम–ये प्रथम सोपान (या सीढ़ियां) आवश्यक हैं। ईश्वर के लिये पिपासा, ईश्वर प्राप्ति के लिये व्याकुलता होने से सच्चा अनुराग, सच्ची भक्ति उत्पन्न होती है। यह व्याकुलता किसको है? यही तो प्रश्न है। सिद्धान्तवाद, या बौध्दिक विवाद में धर्म नहीं है। धार्मिक "होना" और "बन जाना" धर्म है। प्रत्यक्ष "अनुभव करना" धर्म है। तद्रूप और तन्मय होना धर्म है। साक्षात्कार करना धर्म है। हम हर किसी को ईश्वर, आत्मा और विश्व के सभी रहस्यों की बातें करते सुनते हैं पर यदि आप उन में से एक एक को लेकर यह पूछते जाँय कि "क्या तुमने ईश्वर का साक्षात्कार किया है? अपनी आत्मा को देखा है?" तो उन में से कितने लोग "हां" कहने का साहस करेंगे? इतना होते हुए भी वे सब आपस में लड़ रहे हैं। एक बार हिंदुस्थान में सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि एकत्र हुए और विवाद करने लगे। एक ने कहा कि "शिव ही एक मात्र ईश्वर हैं" दूसरा बोल उठा "एक मात्र ईश्वर तो विष्णु ही हैं।" इसी प्रकार उन के विवादों का

कोई अंत ही नहीं था। उसी मार्ग से एक ऋषि जा रहे थे। इन विवादकों ने उन्हें निर्णय करने के लिये बुलाया। ऋषिवर वहां गये और उन्हों ने शिवके ही सबसे बड़े ईश्वर होने का दावा करनेवाले मनुष्य से पूछा "क्या तुमने शिवको देखा है? क्या उससे तुह्मारा परिचय है? यदि ऐसा नहीं है तो तुम कैसे जानते हो कि वेही सब से बड़े ईश्वर हैं"। तत्पश्चात् उन्हों ने विष्णु के उपासक की ओर देखकर उससे भी प्रश्न किया "क्या तुमने विष्णु को देखा है?" इसी तरह बारी २ से उन्होंने प्रत्येक से प्रश्न किया। तब पता लगा कि उनमें से कोई भी ईश्वर के विषय में कुछ नहीं जानता था। इसी कारण वे इतना झगड़ा कर रहे थे यदि उन्हें यथार्थ ज्ञान होता तो वे बहस न करते। पानी भरते समय खाली घड़ा आवाज करता है पर जब घड़ा भर जाता है तब आवाज बंद हो जाती है। अतः इन संप्रदायों में बहस और झगड़ों का होनाही यह सिद्ध करता है कि ये लोग धर्म को कुछ जानते ही नहीं। उनके लिये तो धर्म का अर्थ है पुस्तकों में लिखने के लिये कुछ निरर्थक शब्दों का संग्रह मात्र। हर किसी को एक बृहद्ग्रंथ लिखने की जल्दी पड़ी है। जहां हाथ लग जाय उसी पुस्तक से सामग्री चुराकर और किसी का ऋण बिना स्वीकार किये ही अपने ग्रंथ को जहांतक बने बृहत्काय बनाने की धुन उन पर सवार है। तत्पश्चात्

वह अपनी पुस्तक को संसार में प्रचलित करके वहां की वर्तमान अशांति में और भी वृद्धि कर देता है।

बहुसंख्यक मनुष्य तो नास्तिक हैं। इस जमाने में पश्चिमी दुनियां में नास्तिकों का एक और दल-जड़वादी-उत्पन्न हुआ है इस की मुझे खुशी है। ये जड़वादी लोग निष्कपट नास्तिक हैं। धार्मिक नास्तिक लोग कपटी होते हैं, धर्म की बातें करते हैं, धर्म के लिये लड़ते हैं पर उन्हें धर्म की आकांक्षा नहीं है। उन्हें धर्म की "चाह नहीं हैं। वे कभी धर्म का "साक्षात्कार" करने का प्रयत्न नहीं करते। वे धर्म को "समझने की कोशिश नहीं करते। ऐसे धार्मिक नास्तिकों से जड़वादी नास्तिक बेहत्तर हैं। क्राइस्ट के उन वचनों को याद रक्खो "मांगो और वह तुम्हें दे दिया जावेगा, ढूंढो और तुम पाओगे, खटखटाओ और तुम्हारे लिये दरवाज़ा खोल दिया जावेगा।" ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं। न ये रूपक हैं न ये काल्पनिक ही हैं। ईश्वर के सब से बड़े पुत्रों में से एक पुत्र के-जिसका हमारे संसार में अवतार हुआ था-ये शब्द हैं। ये शब्द-उस के हृदय के रक्त के ये बाह्य प्रवाह हैं। ये शब्द साक्षात्कार के फल रूप मिले थे। पुस्तकों से उध्दृत किये हुए नहीं थे। ये शब्द उस महापुरुष से प्राप्त हुए हैं जिन्हों ने ईश्वर का अनुभव प्राप्त किया था; स्वयं परमात्मा का साक्षात्कार किया था; जिस महापुरुषने ईश्वर से बातें

की थीं। ईश्वर के साथ रहते थे, जिन्हों ने ईश्वर को—हम आप इस इमारत को देख रहे हैं उस से सौगुना अधिक प्रत्यक्ष—देखा था। ईश्वर की चाह किसे है ? यही प्रश्न है। क्या आप समझते हैं कि संसार का इतना मनुष्य समुदाय ईश्वर प्राप्ति की इच्छा रखते हुए ईश्वर को नहीं पा सकता? यह असम्भव है। ऐसी कौनसी इच्छा है जिस इच्छा को पूर्ण करने वाला पदार्थ बाहार नहीं है। मनुष्य सांस लेना चाहते हैं और उनके सांस लेने के लिये हवा मौजूद है। और उनके खाने के लिये अन्न विद्यमान है। इन इच्छाओं को, इन आकांक्षाओं को कौन उत्पन्न करता है? इन बाह्य वस्तुओं का अस्तित्वही इन आकांक्षाओं को उत्पन्न करता है। प्रकाशने ही आंखो को बनाया। शब्द से ही कान की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार मानव प्राणी की समस्त आकांक्षाओं की उत्पत्ति किसी न किसी बाहर रहने वाले पदार्थ के कारण हुई है। पूर्णसिद्धि पाने की, उद्देश्य को पहुँचने की प्रकृति के परे जाने की यह आकांक्षा बिना किसी वस्तु द्वारा निर्माण किये, उस के द्वारा मनुष्य की आत्मा में बिना प्रवेश कराये, उस में बिना स्थित कराये यह आकांक्षा वहां कैसे हो सकती है? अतः जिस मनुष्य में ऐसी आकांक्षा जागृत हो उठी है वह उद्दश्य को अवश्य प्राप्त करेगा। पर यह आकांक्षा है किसे? हमें ईश्वर के सिवाय बाकी सभी चीजों की

आकांक्षा है। यह जो अपने चारों ओर देखते हो वह धर्म नहीं है। मेरी गृहिणी का दिवानखाना दुनियां के सभी स्थानों से आई हुई किस्म २ की चीजों से सजा है। पर आजकल का फैशन है कि कुछ जापानी चीजें भी चाहिये इस लिये वह एक जापानी पुष्पपात्र (vase) मोल लेकर उसे भी वह अपने कमरे में स्थापित करती है। अधिकांश मनुष्यों का धर्म इसी प्रकारका है। उपयोग की सभी वस्तुएँ उन के पास हैं पर धर्म के थोड़े से स्वाद के बिना जीवन में कुछ कमी आजाती है और समाज भी निंदा करती है अतः कुछ धर्म भी चाहिये। संसार में धर्म की यही वर्तमान् अवस्था है।

एक शिष्य अपने गुरू के पास गया और बोला "गुरू देव, मुझे धर्म चाहिये"। गुरूजी उस युवक की ओर देखकर कुछ नहीं बोले केवल मुस्करा दिये। युवक प्रति दिन आता था और ज़ोर देकर कहा करता था कि मुझे धर्म चाहिये। पर उस वृद्ध को इस युवक से अधिक ज्ञान था। एक दिन बहुत गरमी पड़ रही थी। गुरू ने उस युवक से कहा "चलो मेरे साथ नदी को; वहां डुबकी लगाना" युवक नदी में कूद पड़ा और गुरूजी भी उस के पीछे चले। गुरूजीने बल पूर्वक उस युवक को पानी के अंदर ही दबाकर रक्खा और जब बहुत देर तक वह युवक पानी के भीतर ही हड़बड़ा चुका तब गुरूजी

ने उसे छोड़ दिया और पूछा "क्यों जी तुम पानी के अन्दर थे तब तुम्हें सबसे अधिक आवश्यकता किसचीज़ की मालूम होती थी ?" शिष्यने उत्तर दिया "वायु की एक सांस की" "क्या तुम्हें ईश्वर की आवश्यकता उसी प्रकार है ! और यदि है, तो तुम उसे (ईश्वर को) एक क्षण में पाजाओगे।" जब तक तुम्हें वही पिपासा, वही तीव्र व्याकुलता, वही लालसा नहीं होती तब तक तुम अपनी बुद्धि द्वारा, पुस्तकों के जरिये, या अनुष्ठानों के मार्ग द्वारा कितनी भी खटपट करो, तुम्हें धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक तुम में ऐसी धर्म पिपासा जागृत नहीं होती तब तक तुम नास्तिक से किसी तरह वेहत्तर नहीं हो। अंतर तुम में और नास्तिक में इतना ही है कि नास्तिक निश्छल (सच्चे हृदय का) है और तुम में वह गुण भी नहीं है।

एक महापुरुष कहा करते थे "मानलो एक कमरे में चोर है। उसे किसी तरह यह मालूम होगया कि उसके बाजू के ही कमरे में स्वर्ण की एक बड़ी राशि रखी हुई है और इन दोनों कमरों के बीच की दीवाल बहुत पतली है। उस चोर की क्या अवस्था होगी ? उस को नींद भाग जावेगी, उस की भूख भाग जावेगी और वह कोई काम भी नहीं कर सकेगा। उसकी सारी चिन्ता यही रहेगी कि यह स्वर्ण कैसे प्राप्त हो, वह सदा यही

सोचेगा कि इस दीवाल में कैसे छेद करूं और उस सोने की ढेरी पर हाथ मारूं। क्या आप यह कहते हैं कि इन सब मनुष्यों को यथार्थ में ऐसा विश्वास है कि सुख की खानि, आनंदकंद, वैभव का खजाना,–स्वयं परमेश्वर–यहां है और ऐसा विश्वास होते हुए भी ये लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिये प्रयत्न न कर के संसार में इस तरह व्यवहार–जैसा अभी कर रहे हैं वैसा–करते हैं ? "

ज्योंही मनुष्य यह "विश्वास" करना आरंभ कर देता है कि "ईश्वर है" त्योंही वह ईश्वर को प्राप्त करने की प्रबल लालसा से पागल हो जाता है। दूसरे भले ही अपनी २ राह से जायें, पर ज्योंही मनुष्य को निश्चय हुआ कि वह यहां जिस तरह का जीवन व्यतीत कर रहा है उस से उच्चतर जीवन और है। ज्योंही उसे निश्चय रूप से अनुभव होगया कि इन्द्रियां ही सब कुछ नहीं हैं, यह अन्त होने वाला जड़ शरीर उस अमर, शाश्वत, अविनाशी आत्मसुख से तुलना करने पर कुछ भी नहीं है ऐसा विश्वास होते ही वह जब तक उस सुख को अपने लिये न प्राप्त करले तब तक पागल हो जाता है। और यही पागलपन, यही पिपासा, यही धुन धर्म के प्रति "जागृति" कहलाती है। और जिस समय मनुष्य की यह अवस्था हो जाती है तभी से उस के धार्मिक जीवन का आरंभ होता है। पर इस अवस्था को पहुँचने के लिये बहुत

समय लगता है ये विधियां और अनुष्ठान, प्रार्थना और तीर्थयात्रा, शास्त्राध्ययन, घंटानाद, आरती, पुरोहित ये सब पूर्व तयारी के साधन हैं। ये सब आत्मा की मलीनता को दूर करते हैं और जब आत्मा पवित्र या शुद्ध हो जाती है तब तो आत्मा का सहज स्वभाव है कि वह अपने उत्पत्तिस्थान-पवित्रता की खानि स्वयं परमात्मा-के पास पहुँचना चाहती है। जैसे लोहे का टुकड़ा सदियों की धूलि से ढँका सदा चुम्बक के समीप पड़ा रहता है और चुम्बक उसे अपनी ओर आकर्षण नहीं करता पर धूलि को हटा कर लोहे को साफ करते ही लोहा चुम्बक की ओर खिंच जाता है उसी प्रकार कई जमाने की धूलि-अपवित्रता, दुष्टता और पापों-से ढँका हुआ मनुष्य का जीवात्मा अनेक जन्मों के पश्चात् इन विधियों और अनुष्ठानों को ग्रहण कर के दूसरों की भलाई करते करते, अन्य प्राणियों पर प्रेम करते २ पर्याप्त शुद्धता को प्राप्त होता है तब उसकी स्वाभाविक आध्यात्मिक आकर्षण शक्ति प्रगट होती है और जीवात्मा जाग उठता है और परमात्मा की ओर जाने की प्रबल चेष्टा करता है।

तथापि ये सब अनुष्ठान और मूर्तियों की उपासना प्रारंभ मात्र हैं ईश्वर का सच्चा प्रेम नहीं है। प्रेम की बात तो सर्वत्र सुनाई पड़ती है हर कोई कहता है ईश्वर से प्रेम करो। पर मनुष्यों को मालूम नहीं कि प्रेम है कौन सी

वस्तु। यदि वे इसे जानते तो उसके विषय में ऐसी निठल्ली बातें न करते। हर कोई कहता है कि मैं प्रेम कर सकता हूँ परन्तु पांच मिनटों में ही पता चल जाता है कि उसके स्वभाव में प्रेम नहीं है। प्रत्येक स्त्री यही कहती है कि वह प्रेम कर सकती है पर तीन मिनटों में ही उसे पता लग जाता है कि मैं प्रेम नहीं कर सकती। संसार प्रेम की बातों से भरा पड़ा है पर प्रेम करना बड़ा कठिन है प्रेम कहां है? प्रेम है यह तुम कैसे जानते हो! प्रेम का प्रथम लक्षण है कि उसमें व्यापार या सौदागरी न हो। जब तक तुम किसी मनुष्य को किसी चीज के पाने की इच्छा से प्रेम करते देखो तब तक तुम यही जानलो कि वह प्रेम नहीं है; वह तो दुकानदार का प्रेम है। जहां सवाल खरीदी और विक्री का है वहां कोई प्रेम नहीं रह जाता। अतः जब कोई मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है "मुझे यह दो, मुझे वह दो" तो वह प्रेम नहीं है। वह प्रेम कैसे हो सकता है! मैं तुम्हें एक प्रार्थना सुनाता हूं और तुम मुझे उसके बदले कुछ दो। यह तो वही निरी दुकानदारी की बात हुई। एक महाराजा जंगल में शिकार खेलने गये वहां एक संत से उनकी भेंट होगई। उन दोनों में कुछ थोड़ा सा वार्तालाप हुआ। महाराजा उस संतोंसे इतने प्रसन्न होगये कि महाराजा उनसे पुरस्कर स्वीकार करने के लिये कहने लगे। संत बोले "नहीं, मुझे अपनी वर्तमान

स्थिति से पूर्ण संतोष है, ये वृक्ष मुझे खानेको फल देते हैं, ये सुंदर निर्मल नदियां मुझे यथेष्ट जल दिया करती हैं, गुफाओं में म शयन करता हूं, आप महाराजा हैं तथापि मुझे आप के पुरस्कार की परवाह नहीं है।" महाराजा बोले "केवल मुझे पावन करने, मुझे संतोष देने के लिये आप कुछ पुरस्कर कृपया लेलें और मेरे साथ मेरी राजधानी को चलें।" निदान संत महाराजा के साथ चलने के लिये राजी होगये। और महाराजा उन्हें अपने राजमहल में लिवा लाये। वह महल सोना, जवाहिरात, मणि-माणिक्य और तरह २ की अद्भुत वस्तुओं से परिपूर्ण था। वहां दौलत और ताकत सर्वत्र दिखाई देती थी। महाराजा ने सन्त से कहा आप एक मिनिट ठहरिये, मैं ईश्वर की प्रार्थना करलूं ऐसा कहकर महाराजा एक कोने में चले गये और प्रार्थना करने लगे "हे ईश्वर! मुझे और अधिक धन, संतति और राज्य दे।" इतने में सन्त उठ खड़े हुए और जाने लगे। महाराजा ने उन्हें जाते देखा और वे भी उनके पीछे चले और कहने लगे "ठहरिये महाराज! आपने मेरा पुरस्कार तो नहीं लिया है और आप चले कहां?" सन्त ने उसकी ओर मुंह फेर कर कहा "ऐ भिखारी! मैं भिखारियों से भीख नहीं मांगता; तुम क्या दे सकोगे? तुम तो खुद ही सदा भीख मांगते आये हो"। यह प्रेम की भाषा नहीं है। यदि आप

ईश्वर से अमुक दो, तमुक दो, ऐसा मांगते ही रहे तो प्रेम और दूकानदारी में अन्तर ही क्या रहा? प्रेम का प्रथम लक्षण यही है कि वह सौदा करना नहीं जानता। वह तो सदा देता ही है। प्रेम सदा देनेवाला हुआ करता है, लेने वाला कभी नहीं बनता। भगवत्पुत्र कहता है "यदि भगवान चाहें तो मैं अपना सर्वस्व उन्हें देदूं पर मुझे उनसे कोई वस्तु नहीं चाहिये। मैं उन से प्रेम करना चाहता हूं इसी लिये प्रेम करता हूं, उसके बदले में मैं उनसे कुछ नहीं मांगता। ईश्वर सर्व शक्तिमान् है या नहीं इस की मुझे क्या परवाह है? मुझे न उनकी कोई शक्ति चाहिये न उन की शक्ति का प्रदर्शन ही चाहिये। वे प्रेम के भगवान् हैं, यानें भगवान् प्रेममय हैं इतना ही मेरे लिये बस है। मैं और कोई प्रश्न नहीं पूछता।

द्वितिय लक्षण यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रेम में डर हो ही कैसे सकता है? क्या बकरी शेर पर, चूहा बिल्ली पर, गुलाम मालिक पर प्रेम करता है? गुलाम लोग कभी कभी प्रेम दिखाया करते हैं पर क्या वह प्रेम है? क्या डर में आपने कभी प्रेम देखा है? ऐसा प्रेम सदा बनावटी रहता है। जब तक मनुष्य की भावना यह है कि ईश्वर बादलों के उपर बैठा है, एक हाथ में वह पुरस्कार लिये है और दूसरे में दण्ड,

तब तक प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के साथ भय का या किसी भय दायक वस्तु का विचार नहीं आता। मान लो एक युवती माता सड़क से जारही है और कुत्ता उसकी ओर भौंकने लगा तो वह पास वाले मकान के अंदर चली जाती है। दूसरे दिन मान लो सड़क में जाते समय उसके साथ उस का बच्चा भी है और सिंह उस बच्चे पर झपटता है तब वह माता कहां जावेगी। तब तो वह माता अपने बालक की रक्षा करते २ उसी सिंह के मुख में ही प्रवेश करेगी। प्रेम सभी भय को जीत लेता है। उसी तरह ईश्वर का प्रेम भी है। भगवान् वरदाता हैं या दण्डदाता हैं इसकी किसे परवाह है? प्रेमी का विचार इस प्रकार का नहीं रहता। एक न्यायाधीश जब अपने घर आता है तब उसकी पत्नी उसे किस भावसे देखती है? उसे वह स्त्री न्याय करने वाला पुरस्कारदाता या दण्डदाता के रूप में नहीं देखती वरन् उसे अपना स्वामी अपना प्रेमी ही मानती है। उसके बच्चे उसमें क्या देखते हैं? एक प्रेमी पिता न कि दण्डदाता या वर दाता। उसी तरह ईश्वर के बालकों को भी ईश्वर में दण्डदाता या वर दाता नहीं दीख पड़ता। ये सब बाहरी लोग-जिन्हों ने ईश्वर के प्रेम का स्वाद कभी नहीं लिया है वे ही उससे डरते हैं और अपने जीवनभर उसके सामने भय से कांपते रहते हैं। इस सब डर को दूर करो-ईश्वर दण्डकर्ता है या

वर दाता है, ये सब भयंकर विचार हैं। इन सब विचारों से वर्वर प्रकृती वाले मनुष्यों को भले ही लाभ होता हो। कुछ अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य भी आध्यात्मिक जगत में वर्वर ही रहते हैं और इन विचारों से उन्हें सहायता मिल सकती है। पर जो मनुष्य धार्मिक हैं, धर्ममार्ग में चल रहे हैं जिन की धार्मिक जागृति हो चुकी है उनके लिये ये विचार केवल लड़कपन या मूर्खता के ही होंगे। ऐसे मनुष्य भय के समस्त विचारों का परित्याग करते हैं।

तृतीय लक्षण और उच्चतर है। प्रेम सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य प्रथम दो श्रेणियों को पार कर जाता है–जब उसने सौदागरी छोड़ दी और समस्त भय को दूर भगा दिया–तब वह ऐसा अनुभव करने लगता है कि प्रेम ही सर्वोच्च आदर्श है। कोई रूपवती सुंदरी किसी कुरूप पुरुषपर प्यार करते इस संसार में कितनी वार देखी गई है। कितनी वार कोई सुंदर पुरुष किसी कुरूपा स्त्री पर प्रेम करते देखा गया है। ऐसे प्रसंगों में आकर्षक वस्तु कौन सी है? वाहर से देखने वालों को तो कुरूप पुरूप या कुरूप स्त्री ही का दृश्य दिखाता है, प्रेमी का रूप नहीं दिखाता। प्रेमी की दृष्टि में तो उस से बढ कर सुन्दरता और कहीं नहीं दिखाई देती। ऐसा कैसे होता है? जो स्त्री कुरूप पुरुप को प्यार करती है वह मानों अपने मन के भीतर जो सौंदर्य का आदर्श है उसे लेकर इस कुरूप पुरुष पर

आरोपित करती है और वह स्त्री इस कुरूप पुरुष की नहीं वरन् अपने आदर्श की ही उपासना या उसी पर प्यार करती है। यह पुरुष मानों केवल उपलक्ष मात्र है और इस उपलक्ष पर वह अपने आदर्श को डाल कर इसे आच्छादित कर देती है और तब यह मनुष्य उसका उपास्य बन जाता है। सभी प्रेम को यही बात लागू है। सोचो तो हम में से कितनों के ही भाई बहिन साधारण रूप के हैं तथापि उन के भाई या बहिन होने का भाव ही उन्हें हमारे लिये सुंदर बना देता है।

इसके पीछे सिद्धान्त यह है कि हर कोई अपना आदर्श सामने लाता है और उसी की उपासना करता है। यह बाह्य जगत् केवल उपलक्ष मात्र है। हम जो कुछ देखते हैं वह सब हमारे मन से ही बाहर निकलता है। कीटक के सीप के भीतर बालुका का एक कण प्रवेश करता है और वह कीटक को उत्तेजित करता है। इस से उस कीटक के शरीर से एक द्रव पदार्थ निकलता है जो उस बालू के कण को ढांक लेता है और परिणाम में सुंदर मोती प्राप्त होता है। यही हम सब कर रहे हैं। इसी प्रकार बाह्य-वस्तुओं से हमें केवल प्रेरणाकी या उपलक्षकी प्राप्ति होती है जिसपर हम अपने आदर्श को स्थापित करके अपने सब पदार्थ निर्माण करते हैं। दुष्ट लोग इस संसार को घोर नरक के

रूप में देखते हैं और सज्जन इसे सच्चा स्वर्ग समझते हैं। प्रेमी जन इस संसार को प्रेममय देखते हैं और द्वेषी जन इसे द्वेषपूर्ण मानते हैं। लड़ाकू लोगों को इस संसार में लड़ाई के सिवाय कुछ नहीं दिखता और शांति प्रिय लोगों को शान्ति ही दिखाई देती है। सिद्ध पुरुषों को एक ईश्वर को छोड़ कर और कुछ नहीं दिखाई देता। इस तरह हम सदा अपने ही उच्चतम आदर्श की उपासना करते हैं और जब हम आदर्श को आदर्श ही जान कर प्रेम करने लगते हैं उस अवस्था में पहुँचने पर समस्त वादविवाद और शंकाएँ सदा के लिये लुप्त हो जाती हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकता है या नहीं इस की किसे परवाह है? आदर्श तो कभी दूर नहीं हट सकता क्योंकि वह मेरी प्रकृति का ही अंश है। उस आदर्श में मुझे शंका होना तभी संभव है जब मैं अपने ही अस्तित्व के विषय में शंका करूं। और मैं इस में शंका नहीं कर सकता इस लिये उसमें भी शंका नहीं कर सकता, किसे परवाह है कि हमारे बाहर, किसी विशेष स्थान में रहने वाले, अपनी लहर के अनुसार संसार के शासन कर्ता, कई दिनों में सृष्टि निर्माण करके तदुपरान्त बाकी समय नींद सोने वाले ईश्वर को विज्ञान कर सकता है या नहीं! ईश्वर सर्व शक्तिमान् और साथ ही सर्वदयामय भी हो सकते हैं या नहीं इसकी भी किसे परवाह है!

भगवान् मनुष्यों के लिये वरदाता हैं या हमारी और अत्याचारी शासक की दृष्टि से देखते हैं या दयालु सम्राट् की दृष्टि से देखते हैं इस की भी किसे चिन्ता है? प्रेमी तो इन सब बातों के-पुरस्कार और दण्ड, भय और शंका, वैज्ञानिक या अन्य प्रमाण के-परे पहुँच गया है। उस के लिये प्रेम आदर्श ही पर्याप्त है और उसके लिये क्या यह स्वयं सिद्ध बात नहीं है कि यह संसार इस प्रेम का ही प्रगट स्वरूप है? वह कौन सी वस्तु है जो अणुओं को लाकर अणुओं से मिलाती है, परमाणुओं को परमाणुओं से मिलाती है, बड़े दो ग्रहों को आपस एक दूसरे की ओर आकृष्ट करती है, पुरुष को स्त्री की ओर, स्त्री को पुरुष की ओर, मनुष्य को मनुष्य की ओर, पशुओं को पशुओं की ओर आकृष्ट करती है मानों समस्त संसार को एक ही केन्द्र की ओर खींचती हो? यह वही वस्तु है जिसे 'प्रेम' कहते हैं। सब से छोटे परमाणु से लेकर बड़े से बड़े व्यक्ति में उस प्रेम का प्रकाश या स्वरूप दिखाई देता है। यह प्रेम सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वत्र है। चेतन में और अचेतन में, व्यष्टि में और समष्टि में यही भगवत् प्रेम आकर्षक की तरह प्रगट होता है। संसार में यही एक प्रेरक शक्ति है। उसी प्रेम की स्फूर्ति या प्रेरणा से ईसा ने मानव जाति के लिये अपने प्राणों का त्याग

किया; क्षुद्र एक जीवधारी के भी, लिये माता सन्तान के लिये, और पुरुष स्त्री के लिये प्राण त्यागने को तयार होते हैं। इसी प्रेम की प्रेरणा से मनुष्य अपने देश के लिये प्राण त्यागने को उद्यत रहते हैं। और आश्चर्य की बात है कि इसी प्रेम से प्रेरित होकर चोर चोरी करने और हत्यारा हत्या करने जाता है। कारण कि इन स्थानों में भी आत्मा तो वही है यद्यपि प्रकाश्यरूप में भिन्नता है। संसार में यही तो एक मात्र प्रेरक शक्ति है। चोर को स्वर्ण पर प्रेम है; यहां भी प्रेम तो है पर उसका अनुचित उपयोग किया जा रहा है। उसी तरह सभी जुर्मों में और सभी पुण्य कर्मों में वही शाश्वत प्रेम ही इनके पीछे है। मान लो एक मनुष्य न्यूयार्क के दरिद्र मनुष्यों के लिये एक हजार डॉलर का चेक लिखता है और उसी समय उसी कमरे में एक दूसरा मनुष्य अपने मित्र के नाम से जाल साजी कर रहा है। एक ही दीपक के प्रकाश में दोनों लिख रहे हैं पर जो उस प्रकाश का जैसा उपयोग करता है उस के लिये वही जवाबदार है। वह प्रकाश तो किसी निंदा या स्तुति का पात्र नहीं हो सकता। संसार की यह प्रेरक शक्ति प्रेम निर्लेप और सब वस्तुओं में प्रकाशमान है। इस के विना संसार क्षणभर में चूर्ण होकर नष्ट हो जावेगा। और यह प्रेम ही परमेश्वर है।

"हे प्रियतम! पति पर कोई पत्नी पति के लिये

प्रेम नहीं करती। वरन् पति के अंदर में जो +'आत्मवस्तु' या आत्मा है उस के लिये पत्नी पति पर प्रेम करती है। हे प्रियतम! कोई पति पत्नी पर पत्नी के लिये प्रेम नहीं करता वरन् पत्नी के अंदर में जो आत्मा है उस के लिये प्रेम करता है। कोई भी किसी भी चीज़ पर केवल आत्मा को छोड़कर और बात के लिये प्रेम नहीं करता।"* यहां तक कि जिस की इतनी निंदा की जाती है वह स्वार्थ परता भी तो उसी प्रेम का ही स्वरूप है। इस खेल को छोड़कर अलग खड़े हो जाओ, उस में अपने को शामिल करो वरन् इस अद्भुत दृश्य को, इस अपूर्व नाटक को, एक अंकके बाद दूसरे अंक के अभिनय को देखते चलो और इस अद्भुत स्वरालाप को सुनते जाओ। ये सभी उसी प्रेम के ही प्रकाश्य रूप हैं। स्वार्थ पारायणता में भी वही आत्मा या "स्व" अनेक हो जाता है और बढ़ता ही जाता है। वही एक आत्मा एक मनुष्य के विवाह होने पर दो आत्मा और बच्चे पैदा होनेपर अनेक आत्मा हो

---

+ अविनाशी शाश्वत आत्मा जो सृष्टि का आदि कारण है।

* न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।.........न वा अरे सर्वस्यकामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

—बृहदारण्यकोपनिषत् २-४-५

जावेगा; वही पूरा गांव हो जावेगा, पूरा शहर हो जावेगा और फिर भी बढ़ते २ तब तक बढ़ेगा यहांतक कि सारी दुनियां को अपनी आत्मा सारे विश्व को अपनी आत्मा अनुभव करने लगेगा वही आत्मा अंत में सभी पुरुष, सभी स्त्रियां, सभी बच्चों, सभी जीवधारियों, सभी विश्व को एकत्र कर लेगा। वही प्रेम बढ़कर सर्वव्यापी प्रेम, अनन्त प्रेम का एक समुच्चय रूप धारण कर लेगा और वही प्रेम ईश्वर है।

इस प्रकार हम पराभक्ति, परम अनुराग में पहुँचते हैं जब कि अनुष्ठान और प्रतीक छूट जाते हैं। जो इस अवस्था में पहुँच जाता है वह किसी सम्प्रदाय के भीतर नहीं रह सकता क्योंकि सभी सप्रदाय तो उसी के भीतर हैं! वह किसमें प्रवेश करेगा? इस प्रकार का मनुष्य किसी मंदिर या गिर्जाघर में नहीं जा सकता क्योंकि सभी मंदिर और गिर्जाघर तो उसी में हैं। उसके लायक बड़ा गिर्जाघर है कहां? ऐसा मनुष्य अपने को निश्चित सीमाबद्ध विधि या अनुष्टान में बांधकर नहीं रख सकता। वह तो "असीम प्रेम" के साथ एक हो गया है उस "असीम प्रेम" की सीमा कहां है? जिन सब धर्मों में इसी प्रेम का आदर्श है उनमें उनमें उसी प्रेम को प्रगट करनेकी चेष्टा देखी जाती है। इस प्रेम का क्या अर्थ है उसे हम अपने अंतर में जानते

हैं और यद्यपि हम देखते हैं कि इस आसक्तिमयी और आकर्षणमयी सृष्टि में प्रत्येक वस्तु उसी " असीम प्रेम " का अंशतः या पूर्णतया प्रकाशन या स्वरूप मात्र है तो भी हम उसे वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। हां, भीन्न २ देशों के साधु महात्माओं ने उसे वर्णन करने का प्रयत्न किया है और, हम देखते हैं, भाषा की समस्त शक्ति का मंथन कर डाला है और ईश्वर संबंधी छोटी २ भावनाओं को भी प्रगट करने के लिये अत्यंत इन्द्रिय विषयक शब्दों को भी ईश्वरी भाव के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

हिब्रू राजर्षि * और भारतवर्षीय ऋषियों ने उस ईश्वर की स्तुति का गान इस प्रकार किया है " हे प्यारे! तेरे अधरों का एक चुम्बन! होते ही तेरे लिये पिपासा सदा बढ़ती ही जाती है। सभी दुःखों का अंत हो जाता है और भूत वर्तमान और भविष्य सभी को मनुष्य भूल जाता है और एक तेरा ही चिन्तनमात्र किया करता है। " + यही प्रेमी का पागल पन है। इस अवस्था में सभी वास

---

* The Song of Solomon, in the old Testment.

\+ सुरत वर्धनं शोकनाशनं
स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतर राग विस्मारणं नृणाम्
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
श्रीमद्भागवत १०-३१-१४

नाएँ नष्ट हो जाती हैं। प्रेमी कहता है " मोक्ष की किसे परवाह है? उद्धार की किसे इच्छा है; सिद्ध भी कौन होना चाहता है? स्वतंत्रता की किसे परवाह है?"

" न मैं धन चाहूं, न आरोग्य, न सौन्दर्य, न बुद्धि। सभी दोषों से पूर्ण इस संसार में मेरा पुनः पुनः जन्म हो। मुझे कोई शिकायत न होगी परन्तु हे ईश्वर! तुझ पर मेरा प्रेम सदा बना रहे और यह प्रेम, किसी अन्य हेतु से नहीं, केवल प्रेम के लिये ही यह प्रेम हो याने तुझ पर मेरी अहैतु की भक्ति हो।"* यही तो प्रेमोन्माद है जो उक्त स्तुति गीतों में प्रकाशित की गई है। मानव प्रेम में स्त्री-पुरुष का प्रेम ही उच्चतम, अत्यन्त व्यक्त, परम प्रबल और परम आकर्षक होता है इसी कारण उसी भाषा का व्यवहार उच्चतम भक्ति के वर्णन में किया जाता है। इस मानव प्रेम का उन्माद संत महात्माओं के ईश्वर प्रेम के उन्माद की अत्यन्त क्षीण प्रतिध्वनि है। ईश्वर के सच्चे प्रेमी (भक्त) ईश्वरी प्रेम में रंगकर उन्मत्त होना चाहते हैं। वे

---

* न धनं न जनं न च सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनी श्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

—श्रीकृष्णचैतन्य।

"भगवत्प्रेमोन्मत्त पुरुष" बनाना चाहते हैं। प्रत्येक धर्म के साधुमहात्माओं ने जो प्रेममदिरा अपने हृदय का रक्त डाल कर तयार की है; जो प्रेम मदिरा प्रेम के लिये ही प्रेम करने वाले समस्त निष्काम ईश्वर प्रेमी भक्तों की आशाओं का आधार या आश्रयस्थान है उसी प्रेम मदिरा का प्याला ये प्रेमी भक्त पीना चाहते हैं। प्रेम का पुरस्कार प्रेम ही है और यह कैसा उत्तम पुरस्कार है! यही एक वस्तु जो समस्त दुःखों को दूर करती है; इसी प्याले को पीने से इस संसार रूपी व्याधि का नाश हो जाता है; मनुष्य ईश्वरोन्मत्त बन जाता है और मैं मनुष्य हूं यह भी भूल जाता है। अंत में हम देखते हैं कि सभी भिन्न भिन्न प्रणालियां अंत में उसी एक बिन्दु-पूर्ण एकता-पर पहुँचती हैं। हम आरंभ में सदा द्वैतवादी ही रहते हैं? ईश्वर एक भिन्न व्यक्ति है और मैं दूसरा भिन्न व्यक्ति हूं। दोनों के बीच में प्रेम उपस्थित होता है और मनुष्य की ओर बढ़ना आरंभ करता है और ईश्वर मानों मनुष्य की ओर बढ़ना शुरू करता है। मनुष्य अपने जीवन के सभी २ संबंधियों को-उदाहरणार्थ, माता, पिता, मित्र, प्रेमी को-अपनाते जाता है; वही यह सब बन जाता है; और अंतिम अवस्था यह हो जाती है कि वह अपने उपास्य के साथ एक हो जाता है। "मैं तू हूं और तू मैं है और तेरी पूजा करते हुए मैं स्वयं अपनी पूजा करता

हूं और अपनी पूजा करते हुए मैं तेरी पूजा करता हूं" उस समय हमें उसी वस्तु की परमोच्च अवस्था का अनुभव होता है जिस वस्तु से मनुष्य अपना कार्य आरंभ करता है। प्रारंभ में वह आत्म-प्रेम ही था पर क्षुद्र आत्मीयता के भावने उस प्रेम को स्वार्थमय बना दिया और अंत में जब प्रकाश की पूर्ण ज्योति का आविर्भाव हुआ उस समय वह आत्मीयता "अनंत" का रूप ले लिया। जहां से हम आरंभ करते हैं वहीं पर अंत भी होता है। वह ईश्वर जो सर्व प्रथम जो किसी स्थानाविशेष में रहने वाला व्यक्ति था उसीने मानों "अनंत प्रेम" का रूप धारण कर लिया। स्वयं मनुष्य का भी रूपांतर हो गया। वह ईश्वर की ओर अग्रसर हो रहा था, वह जिन व्यर्थ वासनाओं से पहिले पूर्ण था, । उन सभी वासनाओं को दूर कर रहा था। वासनाओं के साथ स्वार्थपरता नष्ट हो गई और अंत में उसे यही अनुभव हुआ कि प्रेम, प्रेमी और प्रेम पात्र तीनों याने भक्तिः भक्त और भगवान् तीनों एक ही हैं॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

ॐ शान्तिः ३

## श्री रामकृष्ण आश्रम धंतोली, नागपुर.

# अन्य प्रकाशन

### श्री रामकृष्ण शिवानंद ग्रंथमाला

१. भगवान श्री रामकृष्णदेव का प्रमाणिक तथा विशद जीवन-चरित्र ( मराठी में )

स्वर्गवासी एन्. आर् परांजपे कृत–तथा महात्मा गांधी की लिखी हुई भूमिका सहित–

प्रथम भाग—३४७ पृष्ठ, द्वितीय आवृत्ति.

द्वितीय भाग ३९२ पृष्ठ.

कीमत १॥) रू. प्रत्येक भाग, चित्ताकर्षक गेट अप और सुन्दर छपाई और अनेकों मनोहर चित्रों सहित.

२. श्री रामकृष्ण वाक्सुधा ( मराठी में )

( श्रीरामकृष्ण के अंतरंग शिष्य ) स्वामी ब्रह्मानंद कृत—अनुवादक ए. एम्. शेम्बेकर, सचित्र पृष्ठ ११९ कीमत ५ आना.

३. श्रीरामकृष्ण का संक्षिप्त जीवन चरित्र ( मराठी में )

एस्. बी. ठोम्बरे एम्. ए. कृत

सचित्र—पृष्ठ ३० कीमत १ आ. ६ पा.

यहां पर निम्न लिखित भी प्राप्य हैं:—

रामकृष्ण मिशन के अन्य अंग्रेजी प्रकाशन, श्रीरामकृष्ण, पवित्र पावन मातेश्वरी ( श्री रामकृष्ण की धर्मपत्नी ), स्वामी विवेकानन्द और अन्यों के सुन्दर रंगीन तस्वीर.

**स्वामी भास्करेश्वरानंद**

अध्यक्ष—श्री रामकृष्ण आश्रम

धंतोली, नागपुर.